अध्यात्म ग्रन्थ-माला का द्वितीय पुष्प

मनोविज्ञान

तथा

शिवसङ्कल्प

लेखक—

स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती

आचार्य, गुरुकुल पोठोहार

प्रकाशक—

मोतीराम प्रकाशन-विभाग,

गुरुकुल पोठोहार, रावलपिण्डी.

प्रथमावृत्ति १००० | विक्रम संवत् २००० दयानन्दाब्द १२० | मूल्य १॥)

हमदर्द स्टीम प्रैस, रावलपिंडी में छपी ॥
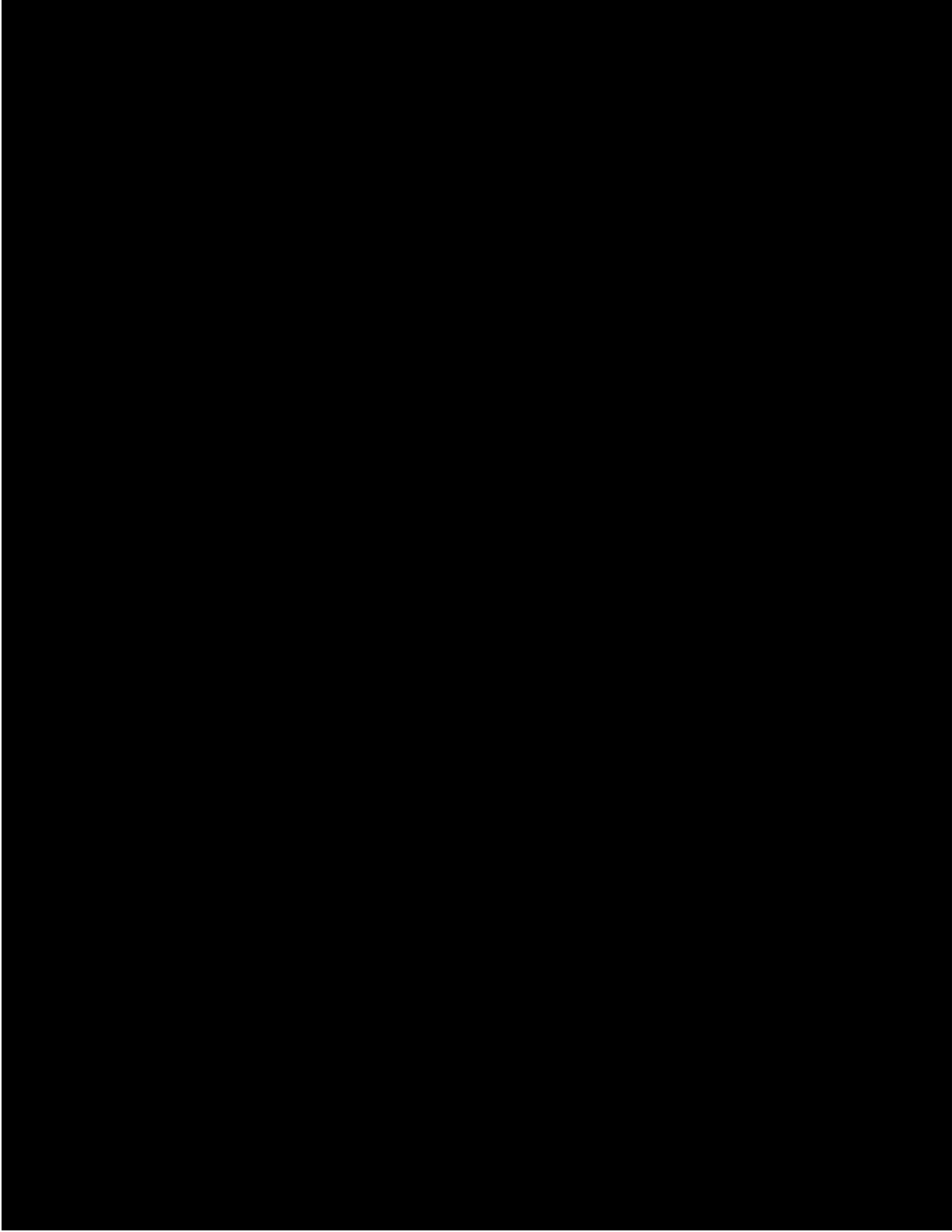
❀ धन्यवाद ❀

इस "मोतीराम प्रकाशन-विभाग" का उद्घाटन, लाहौर की 'कृपाराम ब्रदर्स' फर्म के स्वामी स्वर्गीय लाला मोतीराम जी आर्य की पुण्य स्मृति के लिये गुरुकुल की पवित्र भूमि में किया गया है। तथा 'मोतीराम-कल्याण प्रेस' की स्थापना की जा रही है।

इस पुण्य-कार्य के लिये आप की धर्म-प्राण धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी जी ने गुरुकुल को चार हज़ार रुपया दान दिया है। एतदर्थ गुरुकुल-सभा श्रीमती जी का हार्दिक धन्यवाद करती है।

मन्त्री.

लाहौर की कृपाराम आदर्श शाखा के सञ्चालक
स्वर्गीय ला: पोतीराम जी

समर्पण

सकल तन्त्र स्वतन्त्र, व्याकरण-
दिवाकर, आचार्य-श्रेष्ठ, गुरुवर
पण्डित परमानन्द जी
विद्यानिधि की
सेवा में
सादर समर्पण

पूज्य गुरुदेव ! आरम्भ-काल में आप की ही चरण-शरण में उपस्थित हो गीर्वाण वाणी की वर्ण-माला आरम्भ करने का सुअवसर मिला। आप के मधुर लालन, उन्नत आचार एवं गम्भीर विचार-धारा से जो उल्लासमय प्राणन मिला, वह आज तक उसी प्रकार अन्तःकरण के चित्र-पट पर अङ्कित है। पूज्यपाद ! इस अकिञ्चन के पास और कुछ तो था नहीं, गुरुदक्षिणा के रूप में वेद-मन्त्रों का यह छोटा सा स्पष्टीकरण सेवा में समर्पित है, स्वीकृति से अनुगृहीत करेंगे यह आशा है।

आपका प्रिय शिष्य :—

(मुक्तिराम) आत्मानन्द,

विषय-सूची

शिव-सङ्कल्प-मन्त्रार्थ	१–५
देवमन	६–६८
नासिका	८
रसना	१०
चक्षुः	१०
त्वक्	११
श्रोत्र	१३
विद्यार्थियों के लिये इन्द्रियों का उपयोग तथा अभ्यास	१५
शिव-सङ्कल्प–आचार-निर्माण ...	४५
योगाभ्यासियों के लिये अभ्यास–उपेक्षा, अवधान	५६
यक्षमन	६९–१०२
वाक्	७३
पाणि	७५
पाद	७५
पायु	७६
उपस्थ	७७
इन्द्रिय-निग्रह	७८
प्रज्ञानमन	१०३–१३९
चेतस् मन	१४०–१७०
धृतिमन	१७१–२६९
प्रत्यग्भान मन	१९८
विश्वभान मन	२२१
वशीकरण मन ...	२४६

* ओम् *

उपोद्घात

:o:—:o:

इस पुस्तक में हम यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों का व्याख्यान करेंगे। इन मन्त्रों का शिवसङ्कल्प ऋषि, मन देवता, धैवत स्वर और विराट त्रिष्टुप् छन्द है। इन मन्त्रों में प्रतिपाद्य विषय मन है इसी कारण से इस पुस्तक का नाम मनोविज्ञान रक्खा गया है।

जिस तत्व से मन का निर्माण हुआ है वह अब भी आकाश मण्डल में सर्वत्र सूक्ष्म रूप से विद्यमान् है। भगवान् कपिल ने इस तत्व को महत्तत्व अथवा अन्तःकरण नाम दिया है। यदि मनुष्य अपने मन का सम्बन्ध इस तत्व से जोड़ने में समर्थ होजावे तो उस के अनुभव की गति दूर दूर तक हो जाती है। परन्तु हमारा मन भी अभी इतना विशुद्ध नहीं, और हमारी इच्छा शक्ति भी इतनी प्रबल नहीं कि हम ऐसा करने में समर्थ हो सकें।

हमारे शरीर में भी जो मनस्तत्व काम कर रहा है वह भी हमारे सारे शरीर में विद्यमान् है। सारे शरीर में रहने वाले इस तत्व को मन नहीं मनोमय कहते हैं। इस

विषय का स्पष्टीकरण तैत्तिरीय उपनिषद् में किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के दूसरे अनुवाक में अन्नमय कोष का वर्णन किया गया है। और वह अन्नमय कोष हमारा यह पाञ्चभौतिक शरीर है। इस के आगे चल कर प्राणमय कोष का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार है :–

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः तेनैष पूर्णः।

अर्थात् इस प्रतिपादन किये गये अन्न रस के बने हुए शरीर के अन्दर और शरीर से भिन्न प्राण तत्व है। और इस प्राण तत्व से यह शरीर पूर्ण है–व्याप्त है।

इस से आगे चल कर मनोमय कोष का वर्णन है। उस के लिये लिखा है :–

तस्माद्वाएतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः।

अर्थात् उस प्राणमय कोष के अन्दर और उस से भिन्न तत्व मनोमय है। उस मनोमय से यह प्राणमय पूर्ण है–व्याप्त है। मनोमय इसे इस लिये कहते हैं कि सर्वत्र व्यापक मनस्तत्व से इस की रचना हुई है। इस सर्वत्र व्यापक मन के उपादान तत्व को, महर्षि कपिल की परिभाषा में महत्तत्व या अन्तःकरण कहते हैं। नवीन लोग इसे ही विश्वमानस के नाम से भी पुकारते हैं। वेद-ज्ञान का प्रकाश

सृष्टि के आरम्भ में महर्षियों के मानस में भगवान् से इसी मानस द्वारा आई हुई तरङ्गों से हुआ है। इस का विशेष वर्णन हम विश्वभान के प्रसङ्ग में करेंगे। इस तत्व का ही एक अंश हृदय में बैठा हुआ काम कर रहा है। इसे मन कहते हैं। इस का वर्णन ऐतरेय उपनिषद् के दूसरे खण्ड के चौथे मन्त्र में किया गया है। यथा "चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्" अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट होगया। यहां चन्द्रमा से मन की रचना कही गई है। इस से यह स्पष्ट किया गया है कि जिस महत्तत्व से मन की रचना हुई है वह चन्द्रमा की भांति प्रकाशमान् तत्व है। शिवसङ्कल्प मन्त्रों में भी इसे "ज्योतिषां ज्योतिः" अर्थात् प्रकाशों का प्रकाश कहा है। जो मन हृदय में रह कर काम कर रहा है, इन मन्त्रों में उस के दो भाग किये गये हैं। एक दैव और दूसरा यक्ष। दैव मन का पांचों ज्ञान इन्द्रियों के ऊपर अधिकार है, अतः सब ज्ञान-इन्द्रियें इस के नियन्त्रण में रह कर काम करती हैं। यक्ष मन का पांचों कर्म इन्द्रियों पर अधिकार है और वे इस के नियन्त्रण में रह कर काम करती हैं। इसी मनस्तत्व का एक भाग मस्तिष्क में रह कर विषयों के निश्चय का काम किया करता है, उसे बुद्धि कहते हैं। इन मन्त्रों में उसे विज्ञान कहा गया है। और दूसरा भाग मस्तिष्क में ही रह कर अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण किया करता है। मन के इसी भाग में संस्कार रहते

हैं, इस का नाम चित्त है। इन मन्त्रों में इसे चेतस् कहा गया है। इस प्रकार ये चार भाग व्यापृत मन के हैं। हम इसे व्यापृत इस लिये कहते हैं कि इस की क्रियाएं प्रकट रूप से आत्मा के नियन्त्रण में होती हैं, और इसी लिये इसे उद्बुद्ध मन भी कह सकते हैं। इस मनोमय तत्व का पांचवां भाग धृति है। धृति इसे इस लिये कहते हैं कि यह कितनी ही ऐसी शक्तियों, कितने ही ऐसे विषयों और कितनी ही ऐसी क्रियायों को धारण किये रहता है जिन का आत्मा को ज्ञान ही नहीं होता। इन सब रहस्यों का स्पष्टीकरण तो इस के प्रकरण में ही किया जावेगा। यहां केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि हमारे शरीर में सोते हुए और जागते हुए भी प्राण की जितनी क्रियाएं होती रहती हैं जिन का कि आत्मा को पता भी नहीं होता उन सब में इस का हाथ है। विशेष कार्यों के कारण हमने आगे आये हुए तीन मन्त्रों में प्रकट किये गये भाव के अनुसार इस धृति की ही तीन शक्तियों के तीन नाम रख दिये हैं, प्रत्यग्भान, विश्वभान और वशीकरण। धृति मन में आत्मा के प्रकाश की आभा पड़ने पर उसे प्रत्यग्भान अथवा अहङ्कार, भगवान् के प्रकाश की आभा पड़ने पर विश्वभान और उस में नियन्त्रण की शक्ति आने पर वशीकरण नाम दे दिया गया है। यद्यपि मन एक ही तत्व है परन्तु विभिन्न स्थानों में रह कर विभिन्न कार्य करने के कारण उस के अनेक नाम पड़ गये हैं। मन की इन्हीं

सब अवस्थाओं का स्पष्टीकरण इस पुस्तक में किया जावेगा।

यद्यपि यह पुस्तक सब के काम की है तथापि विशेष रूप से विद्यार्थियों और अभ्यासी सज्जनों के लाभ को ध्यान में रख कर इस में विशेष रूप से विषय का विवेचन किया गया है।

मन की इन सब अवस्थाओं का विवरण और स्पष्टीकरण इन मन्त्रों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, अतः मेरे लिये यह विषय नवीन है। और इसी कारण से इस निबन्ध में कई त्रुटियें रह गई होंगी जिनका कि मुझे ज्ञान भी न होगा। अतः मैं विद्वान् महोदयों की सेवा में निवेदन करूंगा कि वे अपनी सम्मतियें भेज कर अनुगृहीत करें, जिस से कि अग्रिम संस्करण में संशोधन किया जासके।

गुरुकुल पोठोहार, रावलपिण्डी,
शिवरात्रि सं० २००१ वि०

आत्मानन्द.

* ओम् *

शिव-सङ्कल्प मन्त्रार्थ

दैव मन

यज्जाग्रतोदूरमुदैतिदैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ यजुः अ. ३४ मं. १

(यत्) जो (जाग्रतः) जागते हुए का (दूरम्) दूर—बाह्य विषय में (उदैति) उदय होता है। (तत्-उ) और वह ही (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथैव) उसी प्रकार (दूर-ङ्गमम्) दूर—संस्कार देश में गया हुआ (उत्-एति) उदय होता है। (तत्-मे) वह मेरा (ज्योतिषां एकं ज्योतिः) इन्द्रिय रूपी प्रकाशों का एक प्रकाश (दैवं-मनः) दैव मन (शिव सङ्कल्पम्) शुभ विचारों वाला (अस्तु) हो।

यक्ष मन

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

यजुः अ. ३४ मं. २

(मनीषिणः) बुद्धिमान् (अपसः) कर्मनिष्ठ (धीराः) विद्वान् लोग (येन) जिसके द्वारा (यज्ञे-विदथेषु) यज्ञों और ज्ञान यज्ञों में (कर्माणि) कर्म (कृण्वन्ति) करते हैं। (यत्-अन्तः प्रजानां) जो अन्दर के उत्पन्न होने वाले तत्वों में (अपूर्वम्) विचित्र तत्व है। (तत्-मे) वह मेरा (यक्षम्-

मनः) यक्ष मन (शिव-सङ्कल्पम्) शुभ विचारों वाला (अस्तु) हो।

प्रज्ञान, चित्त और धृति मन

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।
यजुः अ. ३४ मं. ३

(यत्-अन्तः-ज्योतिः) जो अन्दर प्रकाश रूप है (तत्-मे-प्रज्ञानं-मनः) वह मेरा बुद्धि रूप मन, (यत्-प्रजासु-अमृतम्) जो उत्पन्न होने वालों में अमर है, अर्थात् जिस पर अङ्कित हुए चित्र मिटने कठिन हैं। (तत्-मे-चेतः-मनः) वह मेरा चित्त-रूपी मन, (यस्मात्-ऋते) जिस के बिना (किञ्चन-कर्म) कोई काम (न क्रियते) नहीं किया जाता। (तत्-मे-धृतिःमनः) वह मेरा धृति-रूप मन, (शिव-सङ्कल्पम्) शुभ विचारों वाला (अस्तु) हो।

धृति मन [अमृत प्रत्यग्भान]

येनेदं भूतं भुवनम्भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।
यजुः अ. ३४ म ४

[इदम्] यह [भूतम्] भूत [भुवनम्] वर्तमान [भविष्यत्] भावी [सर्वम्] सब [येन-अमृतेन] जिस अमृत ने [परिगृहीतम्] चारों ओर से गृहीत किया है। [येन] जिस के द्वारा [सप्त होता] सात ऋत्विजों से सञ्चालित [यज्ञः] ज्ञान-यज्ञ [तायते] रचाया जा रहा है

[तत्-मे] वह मेरा [अमृतम्-मनः] अमर प्रत्यग्भान मन [शिव-सङ्कल्पम्] शुभ विचारों वाला [अस्तु] हो।

विशेषः—यह मन धृति का ही अवान्तर भेद है। अतः इस का विशेष नाम मन्त्र में नहीं दिया गया। अमृत पद भी इस के विशेषण-रूप में ही आया है। मन का यह भेद आत्मा के ज्ञान का धृति मन में विकास होने से बना है और आत्मा का ज्ञान अमर है अतः अमृत विशेषण आया है। यह मन ज्ञान का प्रकाश करने वाला है अतः इस का नाम-करण हम ने प्रत्यग्भान कर दिया है।

धृति मन [विश्वभान]

यस्मिन् ऋचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः, यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतम्प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। यजुः अ. ३४ मं. ५

[यस्मिन्] जिस में [ऋचः-साम-यजूंषि] ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञान [रथ-नाभौ] रथ की नाभि में [अराः-इव] अरों की तरह [प्रतिष्ठिताः] स्थिर हैं। [यस्मिन्] जिस में [प्रजानाम्] प्रजाओं का [सर्व-चित्तम्] सारा चित्त-मण्डल [ओतम्] ओत-प्रोत है। [तत्-मे-मनः] वह मेरा विश्वभान मन [शिवसङ्कल्पम्] शुभ विचारों वाला [अस्तु] हो।

विशेषः— यह मन भी धृति मन का ही अवान्तर भेद है। अतः इस का पृथक् नाम मन्त्र में नहीं आया। मन का यह भेद धृति मन में भगवान् के ज्ञान के विकास से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि इस में सब वेदों के ज्ञान की प्रतिष्ठा बतलाई गई है। पहले मन्त्र में, मन में आत्मा के ज्ञान

के विकास की प्रतिष्ठा बतलाई गई थी, अतः वहां सब चित्तों के साथ उस का सम्बन्ध प्रकट नहीं किया था, क्योंकि अपना आत्मा केवल अपने ही चित्त के साथ सम्बद्ध है। परन्तु इस मन्त्र में, मन में भगवान् के ज्ञान की प्रतिष्ठा का वर्णन है, और भगवान् का ज्ञान सर्वत्र विद्यमान् है, अतः इस के साथ सब चित्तों का सम्बन्ध प्रकट किया गया है। इसी लिये हम ने धृति मन के इस भेद का नाम-करण विश्वभान किया है।

धृति मन [वशीकरण]

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
यजुः अ. ३४ मं. ६

(सु-सारथिः) जैसे अच्छा सारथी (अश्वान्) घोड़ों को (इव) उसी प्रकार (यत्) जो वशीकरण मन (मनुष्यान्) मनुष्यों को (नेनीयते) भली भांति आगे लेजाता है (यत्) और जो (अजिरं) जीर्ण न होने वाला (जविष्ठम्) और अत्यन्त वेग वाला (अभीषुभिः) रस्सियों से (वाजिनः-इव) जैसे घोड़े ठहर जाते हैं वैसे ही (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में ठहर गया है। (तत्-मे-मनः) वह मेरा मन (शिवसङ्कल्पम्-अस्तु) शुभ विचारों वाला हो।

विशेषः— जो मनुष्य भगवान् के ज्ञान और उस की उपासना में बहुत आगे बढ़ जाता है उस के मन में ज्ञान के साथ साथ दूसरों को अपने पीछे चलाने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। वह स्वयं किसी को अपने पीछे चलने की प्रेरणा

नहीं करता, प्रत्युत लोग अपने आप उस के विचारों के अनुकूल चलना आरम्भ कर देते हैं। यह आकर्षण की शक्ति उन में उन के उच्च विचारों के कारण उत्पन्न हुई है। उन के चित्त में एक विशेष आकर्षण शक्ति है इस लिये यहां इस चित्त का नाम वशीकरण रक्खा गया है।

धृति
अपान
समान
उदान
नाग
कृकल
व्यान
देवदत्त
कूर्म
वशीकरण
पाणि
प्रत्यग्मान
व्यापृत
मन
प्रज्ञान
उपस्थ
पायु
देव
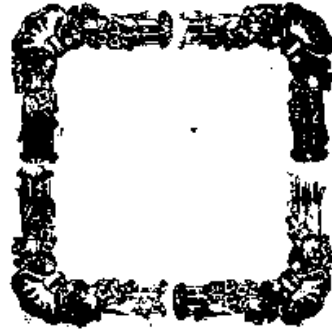
* ओम् *

मनोविज्ञान

तथा

शिवसङ्कल्प

मानस-तल के पटल सब, वरणउँ ध्याय महेश।
शिवसङ्कल्प विकल्प-हर, सुनहु वेद-सन्देश ॥

दैव मन

अन्तःकरण का यह भाग देवों का स्वामी होने के कारण दैव कहलाता है। हमारे इस आत्मराज्य में दैव मन आत्मा का प्रधान मन्त्री है। आत्मा को अपने कर्म-फल, सुख और दुःख का उपभोग करने के लिये बाहर के जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि उस की वह भोग-सामग्री जिसे कि विषय कहते हैं अधिक मात्रा में बाहर के जगत् में है। उसी की प्राप्ति, अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख अथवा दुःख हुआ करता है। आत्मा शरीर के अन्दर रहता है बाहर उस की गति नहीं। इस लिये उसे इस बाहर के जगत् से सम्बन्ध रखने के लिये अपना प्रधान मन्त्री मन रखना पड़ा है। यह मन भी शरीर के इस गढ़ से बाहर नहीं जासकता, अतः इसे भी आत्मा का यह कार्य करने के

लिये उन सेवकों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा जिनका बाहर के जगत् से सम्बन्ध है और जिन्हें हम देव कहते हैं। प्रकाश-मान और विषयों के प्रकाश का साधन होने के कारण इन्हें देव कहते हैं। इन से होने वाले प्रकाश का नाम ज्ञान है, और इस ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य-शक्ति इन में विद्यमान् है, अतः इन्हें इन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि इन्द्र नाम ऐश्वर्य वाले का है। आत्मा का नाम भी इन्द्र है और ये सब आत्मा का काम करते हैं इस लिये भी इन्हें इन्द्रिय कहते हैं। ज्ञान के साधन होने के कारण इन का ज्ञान-इन्द्रिय नाम है। ये इन्द्रिय संख्या में पांच हैं; नासिका, रसना, चक्षुः, त्वक् और श्रोत्र।

मन ज्ञानतन्तुओं के द्वारा इन्हें प्रेरणा करता है। उस की प्रेरणा के अनुसार इन में से कोई अपने विषय से सम्बन्ध कर उस की विशेषता की सूचना उसी मार्ग से मन को दे देता है और मन के द्वारा आत्मा को उस विषय का ज्ञान हो जाता है। यदि उस ज्ञान पर विशेष अवधान दिया हो तो उस के कुछ अङ्कन अथवा चित्र चित्त पर अङ्कित होजाते हैं। चित्त क्या है, और इन अङ्कनों को वह किस प्रकार ग्रहण कर आत्मा का क्या हितसाधन करता है, इस का वर्णन हम आगे चल कर चित्त के प्रकरण में ही करेंगे। आत्मा की, इस ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया इस प्रकार है :—

आत्मा किसी बाहर के विषय को जानने की इच्छा करता है। वह अपनी इच्छाशक्ति के बल से अपने मन के अन्दर उस विषय की ओर बहने वाली विचार-तरङ्ग उत्पन्न करता है। वह विचार-तरङ्ग ज्ञानतन्तुओं में से बहती हुई

उस इन्द्रिय के केन्द्र बिन्दु से जा टकराती है जिस का यह विषय, विषय है। विषय से सम्बन्ध होते ही आत्मा की प्रेरणा के आधार पर ही विषय के स्वरूप को साथ लिये हुए वह तरङ्ग उसी मार्ग से उलटी अन्दर लौट जाती है, और आत्मा उस विषय को जानने में समर्थ हो जाता है।

नासिका

इन इन्द्रियों में से पहिला इन्द्रिय नासिका है। यदि आत्मा ने किसी फूल की सुगन्धि को जानने की इच्छा की है, तो इस की वह कामना अपने मन की गङ्गा के विचार प्रवाह का स्रोत, नासिका की ओर बहा देगी। और नासिका का फूल की गन्ध के साथ सम्बन्ध होते ही उस गन्ध की सूचना पूर्वोक्त विधि के अनुसार आत्मा के पास पहुंच जावेगी।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि नासिका फूल की सुगन्धि को जानने के लिये फूल के पास स्वयं नहीं जाती। फूल के पराग में से उड़ कर छोटे छोटे परमाणु वायु में जा मिलते हैं। वायु उन को साथ लिए आकाश में घूमता हुआ नासिका के पास भी पहुंच जाता है। नासिका भी मन की प्रेरणा से उस गन्ध को तत्काल ही ग्रहण कर उस की सूचना अन्दर पहुंचा देती है। कई बार जब कि मन दूसरे किसी इन्द्रिय के साथ मिल कर काम कर रहा होता है तो गन्ध के साथ सम्बन्ध होते हुए भी नासिका उस की ओर आकर्षित ही नहीं हुआ करती, क्योंकि इन्द्रिय से किसी विषय को जानने के लिये मन का उस इन्द्रिय के साथ

सम्बन्ध आवश्यक है। कई बार किसी विषय का अपने इन्द्रिय पर हुआ हुआ प्रबल आघात मन की प्रेरणा न होने पर भी विषय से सम्बन्ध कर उसे जानने के लिये इन्द्रिय को विवश कर दिया करता है। यहां इन्द्रिय का संयोग पहिले और मन का संयोग बाद में हुआ करता है, परन्तु पहिले अथवा पीछे मन का संयोग है आवश्यक। जैसे कि कोई मनुष्य सोया हुआ है, और उसे कोई इच्छा नहीं कि वह मेघ की गर्जना को सुने। परन्तु अचानक ही मेघ गर्जा, बिजली कड़की, उस ध्वनि का कान के साथ सम्बन्ध पहिले हुआ और मन को सूचना बाद में मिली।

इस इन्द्रिय की रचना विशुद्ध पृथिवी तत्व से हुई है। और इसी लिये यह पृथिवी के प्रधान गुण गन्ध को ही जान सकता है। किसी और गुण को नहीं। गन्ध के आधार द्रव्य को भी यह इन्द्रिय नहीं जान सकता, केवल गुण का ही ज्ञान इसे होता है। उस गन्ध को भी यह अपने गन्ध की सहायता से ग्रहण करता है, और यह ही कारण है कि कोई सहायक न होने से इसे अपने गन्ध का ज्ञान नहीं होता।

इस इन्द्रिय का स्थान नासिका का अग्रभाग है। इस भाग में पृथिवी का एक सूक्ष्म तत्व रहता है इसे ही नासिका या घ्राण इन्द्रिय कहते हैं, नासिका को नहीं। इसी लिये नासिका के रहते हुए भी इन्द्रिय के विकृत हो जाने पर गन्ध का ग्रहण नहीं हुआ करता। यहां भी इन्द्रिय का नाश नहीं होता प्रत्युत उस के कार्य में प्रतिबन्धक विरोधी द्रव्य ज्ञान तन्तुओं को विकृत कर देता है।

रसना

इसी प्रकार रसना को आज्ञा मिलने पर यह भी आम के या किसी वस्तु के रस को जान कर उस की सूचना अन्दर भेजना आरम्भ कर देती है। यहां भी वह वस्तु ही इन्द्रिय के पास आता है, जिस के रस को जानने की इच्छा आत्मा ने की है। फिर रसना का सम्बन्ध उस वस्तु के साथ और उस के द्वारा उस रस के साथ होता है।

इस इन्द्रिय की रचना जल तत्व से हुई है। इसी लिये यह भी जल के प्रधान गुण रस को ही जान सकता है, किसी और गुण को नहीं। रस वाले द्रव्य को जानने की शक्ति इस इन्द्रिय में नहीं, यह भी केवल रस को ही जान सकता है। यह भी रस को अपने रस की सहायता से ही ग्रहण करता है, और इसी लिये कोई सहायक न होने से अपने रस को ग्रहण नहीं कर सकता।

इस इन्द्रिय का स्थान जिह्वा का अग्रभाग है। जिह्वा के अग्रभाग में जल से बना हुआ जो सूक्ष्म तत्व रहता है उसे ही रसना इन्द्रिय कहते हैं, जिह्वा को नहीं। यही कारण है कि कई मनुष्यों को जिह्वा रहते हुए भी इन्द्रिय के विकृत हो जाने पर रस का अनुभव नहीं हुआ करता। यहां भी इन्द्रिय का नाश नहीं होता प्रत्युत किसी प्रतिबन्धक द्रव्य से ज्ञान तन्तु विकृत हो जाते हैं।

चक्षुः

किसी वस्तु के रूप और आकृति की सूचना देना इस इन्द्रिय का काम है। पिछले दो इन्द्रियों की भांति यह

इन्द्रिय अपने स्थान पर बैठा बैठा ही रूप को नहीं जानता। यह अपनी किरणों को रूप और रूप वाले द्रव्य के पास भेजता है। इस की ये किरणें भी बाहर के प्रकाश की सहायता से, चाहे वह सूर्य का हो चाहे दीपक का, वस्तु को ग्रहण करती हैं। यह इन्द्रिय, रूप और रूप वाले द्रव्य दोनों को जान लेता है।

इस की रचना अग्नि तत्व से हुई है, और इसी लिये यह अग्नि के प्रधान गुण रूप का ही ग्रहण करता है और किसी गुण का नहीं। जो आंखों के दो गोलक हम प्रत्येक आदमी की नाक के दोनों ओर देख रहे हैं, वे चक्षुः इन्द्रिय नहीं प्रत्युत उस के रहने के स्थान हैं। इन के अन्दर अग्नि तत्व से बनी हुई एक शक्ति रहती है जो देखने का काम करती है। बस उस का ही नाम चक्षुः इन्द्रिय है। यह ही कारण है कि कई मनुष्यों के ये गोलक ऐसे ही बने रहते हैं और दीखना बन्द हो जाता है। ऐसे मनुष्यों के चक्षु इन्द्रिय का भी नाश नहीं होता, प्रत्युत कोई प्रतिबन्धक द्रव्य ऐसा उत्पन्न हो जाता है, जो या तो ज्ञान तन्तुओं को विकृत कर देता है और या ढांप लेता है। यह इन्द्रिय रूप को ग्रहण करते समय अपने रूप की भी सहायता लेता है, और यह ही कारण है कि कोई अन्य रूप सहायक न होने से अपने रूप का ग्रहण नहीं कर सकता।

त्वक्

यह इन्द्रिय ठण्डे और गरम स्पर्श की सूचना देता है। एक स्पर्श ऐसा भी है जिसे न ठण्डा कह सकते हैं और

न गरम। जैसे कि पृथिवी का कठिन तथा कोमल स्पर्श, और वायु का स्पर्श। इन शेष सब स्पर्शों का दर्शन-कारों ने एक ही नाम अनुष्णाशीत स्पर्श रख दिया है। वायु का स्पर्श यद्यपि कभी ठण्डा और कभी गरम प्रतीत हुआ करता है, परन्तु यह प्रतीति वायु में जल के अथवा अग्नि के परमाणु मिल जाने पर हुआ करती है। कभी ऐसा भी समय हुआ करता है जब वायु का स्पर्श न ठण्डा होता है और न गरम। बस वह ही वायु का अपना स्पर्श है।

यह इन्द्रिय भी स्पर्श और स्पर्श वाले द्रव्य दोनों को जान लेता है। जैसे कि फूल को छूकर हम उस के कोमल स्पर्श और फूल दोनों को जान लेते हैं। इस इन्द्रिय की रचना वायु तत्व से हुई है। और इसी लिये यह वायु के प्रधान गुण स्पर्श का ही ग्रहण करता है और किसी गुण का नहीं।

साधारण बोल चाल में त्वचा नाम चमड़े का है। परन्तु त्वक् इन्द्रिय हमारे चमड़े का नाम नहीं है, यह चमड़ा त्वक् इन्द्रिय के रहने का स्थान है। यह ही कारण है कि कई मनुष्यों का चमड़ा वैसा ही बना रहता है परन्तु उन की छूने की शक्ति मारी जाती है। उस शक्ति का नाम ही त्वक् इन्द्रिय है। यहां भी उस शक्ति अर्थात् वायु तत्व से बने हुए इन्द्रिय का नाश नहीं होता प्रत्युत यह इन्द्रिय अपने ज्ञान तन्तु आदि जिन साधनों की सहायता से काम किया करता था वे साधन विकृत हो जाते हैं। हमारा यह इन्द्रिय कभी विषयों के पास स्वयं चला जाता है और कभी विषय

इस के पास आ जाते हैं। जैसे कि हाथ कभी जाकर फूल को स्वयं छू लेता है और कभी वायु आकर हमारे शरीर से छू जाता है। यह इन्द्रिय भी स्पर्श को अपने स्पर्श की सहायता से ग्रहण करता है और इसी लिये कोई और सहायक न होने से अपने स्पर्श को ग्रहण नहीं कर सकता।

श्रोत्र

कानों का नाम श्रोत्र है। हमारा यह इन्द्रिय शब्द की सूचना दिया करता है। शब्द आकाश का गुण है। हमारा यह इन्द्रिय शब्द को ही ग्रहण किया करता है, उस के आधार आकाश को नहीं। यद्यपि और द्रव्यों का ज्ञान चक्षु और त्वक् इन्द्रिय से हो जाया करता है परन्तु आकाश को वे भी नहीं जान सकते। क्योंकि आकाश अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य है, उस तक इन्द्रियों की पहुंच नहीं। आकाश का ज्ञान हमें अनुमान से ही हुआ करता है, क्योंकि जब शब्द है तो उस का कोई आधार चाहिये, और वह आधार है आकाश।

इस इन्द्रिय की रचना आकाश तत्व से हुई है और इसी लिये यह आकाश के गुण—शब्द को ही ग्रहण कर सकता है और किसी गुण को नहीं।

साधारण बोल चाल में जिन्हें हम कान कहा करते हैं उन्हें ही श्रोत्र भी कहते हैं। परन्तु वस्तुतः श्रोत्र इन्द्रिय इन से भिन्न और वस्तु है। श्रोत्र इन्द्रिय आकाश से बनी हुई एक सूक्ष्म वस्तु है। और इन कानों में ही रहती है। यही कारण है कि कई मनुष्यों के कान ऐसे ही बने रहते हैं परन्तु शब्द सुनाई नहीं दिया करता। ऐसे मनुष्यों के भी श्रोत्र

इन्द्रिय का नाश नहीं हो जाता, परन्तु उस इन्द्रिय के काम करने में जो सहायक थे, उन ज्ञान तन्तुओं में अथवा कान के किसी पर्दे में विकार आ जाता है, और अनुकूल साधन न होने से श्रोत्र इन्द्रिय काम करने में असमर्थ हो जाता है। हमारा यह इन्द्रिय शब्द को जानने के लिये उस के पास नहीं जाया करता परन्तु शब्द स्वयं उस के पास आया करता है। जब किसी स्थान में ढोल बजा करता है तो उस से उत्पन्न हुए शब्द की तरङ्गें आकाश में चारों ओर फैल जाती हैं। आकाश में फैलती हुई ये तरङ्गें हमारे कानों में विद्यमान् श्रोत्र नामक आकाश से भी टकरा जाया करती हैं और हमारे श्रोत्र शब्द को ग्रहण कर लेते हैं।

इस प्रकार ये पांच इन्द्रिय मन की सहायता से बाहर के विषयों का ग्रहण करते हैं। ज्ञान के कुछ ऐसे भी विषय हैं जो बाहर नहीं, अन्दर हैं। उन को ग्रहण करने में मन को इन्द्रियों की सहायता नहीं लेनी पड़ती, यह आप ही उन विषयों का ग्रहण कर लेता है। जैसे कि जब हम फूल को आंखों से देख रहे थे तब कहते थे कि "यह फूल है" हम अपने इस कथन को फूल का ज्ञान कहा करते हैं। परन्तु इस के अनन्तर ही हम कहा करते हैं कि "मैं फूल को जानता हूं" हमारे इस कथन का नाम है, फूल के ज्ञान का ज्ञान। हमें फूल को जानने के लिये आंखें बाहर भेजनी पड़ी थीं। परन्तु फूल के ज्ञान को जानने के लिये आंखों को बाहर भेजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि जिसे फूल का ज्ञान हो वह आंखें बन्द किये हुए भी यह कह

सकता है कि "मैं फूल को जानता हूं"। फूल बाहर था और फूल का ज्ञान अन्दर-हमारे आत्मा में था। यही कारण है कि ज्ञान को जानने के लिये मन को इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ी, वह सीधा ही आत्मा के द्वारा ज्ञान के पास पहुंच गया। "मैं फूल को चाहता हूं" "मैं फूल को लेने का यत्न करता हूं" "मैं कांटों से द्वेष करता हूं" "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" ये सब ज्ञान भी इन्द्रियों की सहायता के बिना मन स्वयं ही कर लेता है। क्योंकि इन सब ज्ञानों में जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख प्रतीत हो रहे हैं, ये सब आत्मा के गुण हैं और आत्मा के साथ मन का सीधा सम्बन्ध है। आत्मा और उस के गुणों को ग्रहण करने के समय मन स्वयं इन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियों की रचना पूर्व कथन के अनुसार पांचों भूतों से हुई है। और मन स्वयं एक स्वतन्त्र इन्द्रिय है।

विद्यार्थियों के लिये इन्द्रियों का उपयोग तथा अभ्यास

अवधान

हम लिख आये हैं कि नासिका दैव मन की प्रेरणा से बाहर के विषय, गन्ध का ग्रहण करती है। विद्यार्थियों को ध्यान रहे कि दैव मन का केवल इतना ही काम नहीं है। दैव मन का व्याख्यान करते हुए वेद ने लिखा है "यज्जाग्रतो दूरमुदैति" (जिस का कि जागते समय दूर उदय होता है) उदय शब्द का प्रयोग चन्द्रमा और सूर्य के साथ हुआ करता है। और उदय होने का तात्पर्य जहां निकलना होता

है, इस के साथ ही यह भी होता है कि जहां वे निकलते हैं वहां की वस्तुओं को प्रकाशित कर देते हैं। हमारे दैव मन का भी दूर के विषयों में इसी प्रकार का उदय होना चाहिये। घ्राण इन्द्रिय से प्रथम सम्बन्ध होते ही जो ज्ञान हुआ है वह स्पष्ट नहीं, धुंधला है—दही में मिले हुए और कुछ कुछ प्रकट हुए मक्खन के समान है। अब उस स्थान पर दैव मन का पूरा योग होना चाहिये अर्थात् उस के प्रकाश द्वारा इस ज्ञान का पूरा मन्थन होना चाहिये। दैव मन के इस विशेष योग को ही दैव मन रूपी चन्द्रमा का उदय कहा है, और इसी का नाम अवधान है।

घ्राण

विद्यार्थी जिस समय बाग़ में जाकर खड़ा हुआ था और उसे गुलाब के फूल की सुगन्धि आई थी, उस समय वह इतना ही जानता था कि इस बाग़ से गुलाब के फूल की सुगन्धि आ रही है। इस ओर उस का ध्यान भी नहीं गया था कि जिस सुगन्धि का मेरी नासिका ने प्रत्यक्ष किया है, उस में कितनी प्रकार की सुगन्धियें मिली हुई हैं, और जब तक उन सब को मैंने पृथक् पृथक् कर के नहीं जाना, मेरी नासिका का पूरा काम हो गया या नहीं। बस प्रत्यक्ष के क्षेत्र में यहां से फिर दैव मन का कार्य आरम्भ होता है। अपने उदय के बाद अब उसी ने तो विद्यार्थी को यह कहा है कि ऐ भोले विद्यार्थी! आंखें खोल कर देख तो सही इस बाग़ में कितनी ही प्रकार के गुलाब के फूल खिले हुए हैं। इन्हें देख और अब सोच कि जिस सुगन्धि का तू ने

प्रत्यक्ष किया है वह एक चीज़ है, अथवा उस में अनेक वस्तुओं का मिश्रण है। इस प्रकाश के प्रकट होते ही विद्यार्थी को अपने ज्ञान की अस्पष्टता का अथवा उस के धुंधले पन का बोध हुआ, और फिर वह एक एक गुलाब के फूल को सूंघ सूंघ कर देखने लगा। और इस के साथ ही एक फूल की सुगन्धि की अपेक्षा दूसरे फूल की सुगन्धि में क्या विशेषता है, इस की पूरी खोज में लग गया। एक बार वह आंखें बन्द कर उन बीसों फूलों में से एक फूल को तोड़ लाया, और आंखें बन्द किये हुए ही उसे सूंघ कर सोचने लगा कि यह कौन से पेड़ का फूल है। अवधान पूरा लग चुका था अतः दैव मन के उज्ज्वल प्रकाश में वह यह जानने में समर्थ हो गया कि यह गुलाबों की इस श्रेणी में खड़े हुए दशवें पेड़ का फूल है। उसने आंखें खोल कर देखा और यह जान कर उस की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा कि वह दशवें पेड़ का ही फूल था।

एक बार परीक्षा करने के लिये गुरू ने अपने विद्यार्थी की आंखें बांध दीं, उसे वाटिका में लाकर खड़ा कर दिया और प्रश्न किया कि बताओ इस बाग़ में कौन कौन फूल खिले हैं? विद्यार्थी ने ध्यान लगाया और दैव मन की सहायता से अवधान के खुले प्रकाश में पहुंच गया। यद्यपि सब फूलों की सुगन्धि को मिला कर वायु ने एक कर दिया था, परन्तु विद्यार्थी के सावधान घ्राण ने उस मिश्रण में से एक एक गन्ध को चुनना आरम्भ कर दिया, और अन्त में वह यह उत्तर देने में समर्थ हो गया कि गुरुवर! इस बाग़

में बीस प्रकार के फूल हैं। अब हमारे विद्यार्थी समझ गये होंगे कि घ्राण इन्द्रिय से किये गए पहिले प्रत्यक्ष में और अवधान के बाद प्रकाश में आये इस दूसरे प्रत्यक्ष में कितना अन्तर है।

सुनते हैं कि एक बार लखनऊ के एक नवाब का स्वागत करने के लिये नागरिक लोगों ने साफ़ की हुई सड़क पर मलमल के थान बिछा दिये और उन पर इतर छिड़का दिया। नवाब महोदय जब उस मार्ग से निकले तो नाक पर रूमाल रख लिया। साथियों के पूछने पर उन्हों ने उत्तर दिया कि इतर में से किसी मरे हुए जन्तु की गन्ध आ रही है। इतर का पात्र देखने पर पता लगा कि उस में एक मरा हुआ झींगा पड़ा हुआ है। इतर की इतनी तीव्र गन्ध थी कि उस में मिली हुई झींगे की गन्ध का किसी को भी पता नहीं लगा। परन्तु नवाब की नासिका ने उस का तत्काल अनुभव कर लिया। यह अवधान की महिमा थी।

जिस विद्यार्थी ने अवधान के द्वारा अपने घ्राण इन्द्रिय को इतना सूक्ष्म दर्शी बना लिया होगा वह वनस्पति-विज्ञान के और विद्यार्थियों से अपना आसन बहुत ऊँचा पावेगा। इसी प्रकार और भी कितने ही लाभ हम आयुर्वेद आदि अन्य विद्याओं का अध्ययन करते समय अपने इन्द्रिय की इस सावधानता से उठा सकते हैं।

घ्राण की यह शक्ति पशुओं में और भी अधिक देखने में आती है। वे सूंघते ही यह निश्चय कर लेते हैं कि यह वस्तु मेरे खाने योग्य है या नहीं। विद्यार्थी चाहें तो वे भी

अपनी घ्राण की इसी स्वाभाविक शक्ति को जागृत कर सकते हैं और इस से कई प्रकार की हानियों से बच सकते हैं।

अवधान की यह सारी महिमा दैव-मनोयोग के ऊपर निर्भर है। और विषय की गहराई तक पहुंचने के लिये विद्यार्थी को इसी का विशेष अभ्यास करना चाहिये।

रसना

प्रत्येक रसना रस की गहराई तक पहुंचना नहीं जानती। एक ही कटु रस अनेक प्रकार का होता है। नीम, भ्रेक, चिरायता, कटुकी, इन्द्रायण, बासा, करञ्जवा आदि सब कड़वी वस्तुएं हैं। परन्तु इन सब की कटुता एक दूसरी से विलक्षण होती है। यह ही दशा मधुर आदि अन्य सब रसों की है। जब ये वस्तुएं कूटने और कपड़छान करने के बाद हमारे सामने आती हैं, और पहिचान के लिये आंखों के सामने रखते हैं तो आंखें जवाब दे देती हैं। इन का पृथक् करके बतलाना उन के लिये कठिन हो जाता है। इन सब वस्तुओं का विवेक करने के लिये हमें रसना की ही सहायता लेनी पड़ती है। इसी प्रकार जब एक प्रकार की दो औषधियें सामने आ जाती हैं, जैसे कि मूंग और मुद्गपर्णी, तो वहां भी आंखें मौन धारण कर लेती हैं, और रसना की सहायता लेनी पड़ा करती है। परन्तु कई स्थानों पर जहां दो औषधियों का स्वाद भी मिलता जुलता होगा तो रसना को भी मौन ही धारन करना पड़ेगा, यदि हम ने उस की शक्ति को दैव मनोयोग अथवा अवधान से चमकाया न होगा।

हमें इस अवधान का अभ्यास इस प्रकार करना

चाहिये। किसी रसीली वस्तु को हम एक बार थोड़ा सा चख लें, और कुछ देर तक उस का स्वाद ध्यान से लेते रहें। उस आस्वाद को लेते समय हमें इतना तल्लीन हो जाना चाहिये कि और कोई विचार-धारा सामने आने ही न पावे और उस रस की विशेषताओं का ही बार बार स्वाध्याय होता रहे। जब इस का अनुभव भली भांति कर चुकें तो इसी जैसे आस्वाद वाली दूसरी वस्तु जीभ पर रखलें। अब यह परीक्षा करने की चेष्टा करें कि इस रस में और उस रस में कितना अन्तर है। यह अभ्यास भी अच्छा समय लगा कर जब तक पूरी विशेषताओं का ज्ञान न हो, करते रहें। इस के बाद इन दोनों औषधियों को मिला दें। और जीभ पर रख कर यह जानने की चेष्टा करें कि इन दोनों औषधियों के कौन से भाग जिह्वा के किस भाग का स्पर्श कर रहे हैं। यह अभ्यास तब तक करते रहना चाहिये जब तक इन दोनों वस्तुओं के रस की विशेषताओं का पृथक् पृथक् अनुभव हमारी जिह्वा भली भांति न करने लग जावे। हमें यह समझ रखना चाहिये कि जिस प्रकार सुनार सोने को भट्टी में तपा तपा कर कुन्दन बनाया करता है ठीक इसी प्रकार हम भी इस अभ्यास से अपनी जिह्वा को अवधान की भट्टी में तपा कर उस की शक्ति को चमका रहे हैं। और यदि हमने उस की शक्ति को जागृत कर लिया होगा तो यह कभी सम्भव नहीं कि वह हमें आड़े वक्त पर जवाब दे दे।

उमाचरण कवि राज एक घटना सुनाया करते थे

कि हमारे दादा जी के पास एक विदेशी विद्यार्थी आयुर्वेद पढ़ा करता था। जब वह विद्या समाप्त कर घर आने लगा तो दादा जी ने उस की परीक्षा लेनी चाही। उन्हों ने उसे एक गोली दे दी और कहा कि बतलाओ इस में कितनी और कौन कौन सी औषधियें पड़ी हैं। विद्यार्थी ने गोली को चबाया, ध्यान को एकाग्र किया और नाम लिखने आरम्भ कर दिये। चौदह औषधियों के नाम लिखने के बाद उस ने कहा कि गुरु जी! पन्द्रहवीं औषधि और है परन्तु उस का पता नहीं लग रहा क्या नाम है। गुरु जी ने आशीर्वाद दिया और कहा, बेटा! तुम पास हो। इस गोली में पन्द्रहवीं औषधि वह है जिस का रस आज तक तुमने कभी चखा ही नहीं है। यह औषधि हमारी रसायन शाला में आई भी थोड़े ही दिनों से है।

हमारे विद्यार्थी इस घटना को असम्भव अथवा अचम्भे की बात समझेंगे। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यह घटना उन के लिये अनूठी तभी तक है जब तक उन्हों ने अवधान के महत्व को नहीं समझा और उस के सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। अवधान के पक जाने पर ऐसी ऐसी घटनाएँ उन्हें साधारण दिखाई देने लगेंगी।

चक्षुः

हमारी आंखें रूप और आकृति को देख कर किसी वस्तु को पहिचाना करती हैं। परन्तु इस पहिचान में हम कई बार भूल किया करते हैं। कई बार हम देवदत्त जैसे रूप और आकृति वाले मनुष्य को देख कर देवदत्त नाम से

पुकारने लगा करते हैं। इसी प्रकार वृक्षों, वनस्पतियों और धातु उपधातुओं की पहिचान करते समय हम कई बार भूल किया करते हैं। ये भूलें हम से तब ही हुआ करती हैं जब कि किसी वस्तु को पहिली बार देखते समय हम ने अवधान से काम न लिया हो। वस्तुओं में समानता होते हुए भी कुछ विशेषताएं अवश्य हुआ करती हैं। परन्तु अवधान लगा कर गम्भीरता से देखे बिना हम उन विशेषताओं को जान नहीं सका करते। और हमारी वह असावधानता और हमारा वह अज्ञान ही हमारी इन भूलों में कारण हुआ करता है। गम्भीरता से सतर्क हो कर देखे बिना हमारे ज्ञान की गहरी छाप भी हमारे चित्त पर नहीं पड़ा करती। और वे चिन्ह दृढ़ नहीं होते जिन के आधार पर हमें किसी वस्तु की विशेषताएं उस के प्रत्यक्ष करते समय याद आ जानी चाहियें। विशेषताओं का प्रत्यक्ष किये बिना हमारा यह ज्ञान अस्पष्ट और अधूरा होता है। जब कोई वस्तु हमारे सामने आती है तो हम उस सारी को एक दृष्टि से देख जाते हैं। और फिर समझा करते हैं कि हम ने इस का प्रत्यक्ष कर लिया। फूल के रूप और आकृति को देख कर ही हम अपने प्रत्यक्षीकरण को समाप्त कर देते हैं। परन्तु जब हमें कोई पूछने लगता है कि जिस फूल को आपने देखा था, उस की कितनी पत्तियें थीं, उन पत्तियों के ऊपर के भाग नोकीले थे या गोल, इन की कितनी लम्बाई और कितनी चौड़ाई थी, इन के अन्दर के भाग में जो पराग के छोटे छोटे कण चिपके हुए थे उन का कैसा रङ्ग और क्या आकार था। इन के बीच की केसर के तन्तु कितने

और कितने लम्बे थे, और उन का रङ्ग क्या था। इस प्रकार फूल की विशेषताओं के सम्बन्ध में किये गये इन और इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर देते समय विवश हमें मौन धारण करना पड़ता है। और इस में कारण है, अवधान के द्वारा सब विशेषताओं का प्रत्यक्ष करते हुए विषय की गहराई तक न पहुंचना।

विद्यार्थियों को किसी विषय का प्रत्यक्ष करते समय उसे कई भागों में बांट देना चाहिये। इस के बाद दैव मन के सब विक्षेपों को बन्द कर अवधान को उस वस्तु के प्रत्येक भाग पर केन्द्रित कर उन सब भागों की सब विशेषताओं का भली भांति निरीक्षण करने की चेष्टा करनी चाहिये। यह परिश्रम उन्हें बार बार नहीं, प्रथम बार किसी वस्तु का प्रथम प्रत्यक्ष करते समय ही करना पड़ेगा। परन्तु इस का लाभ यह होगा कि एक तो वे उस वस्तु के विशेषज्ञ बन जावेंगे, दूसरे उन के मन को सूक्ष्म निरीक्षण का अभ्यास हो जावेगा। और इस से भी बढ़ कर लाभ यह होगा कि दिनों दिन उन की स्मरण-शक्ति उन्नत होती चली जावेगी। क्योंकि उस अवस्था में, वे विषय के एक एक अङ्ग को अपने ज्ञान के द्वारा अपने चित्त में सम्भाल सम्भाल कर रख रहे होंगे। और इसी लिये इस ज्ञान का संस्कार उन के चित्त पर इतना गहरा पड़ेगा कि उसे स्मरण के काल में जागृत होते हुए कुछ भी देर न लगेगी। चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय ही नहीं सभी प्रत्यक्षों के समय अङ्कित की हुई, ज्ञान के संस्कारों की चित्त पर पड़ी हुई, यह गहरी छाप विद्यार्थी जीवन की

एक महत्व पूर्ण घटना है। विद्यार्थी को यह विशेषता अव-धान की कृपा से ही प्राप्त हो सकेगी। अवधान की दृढ़ता दैव-मनोयोग के ऊपर निर्भर है, और दैवमन का यह योग आत्मा की प्रबल आकांक्षा का सहयोग चाहता है। हम विद्यार्थी गण का ध्यान इस ओर साग्रह आकर्षित करना चाहते हैं।

गुरुवर द्रोणाचार्य ने एक बार अपने शस्त्र-विद्या के विद्यार्थियों की परीक्षा लेनी चाही। उन्हों ने पेड़ पर बैठे हुए एक पक्षी की आंख की पुतली पर उन्हें तीर मारने को कहा और बारी बारी प्रत्येक को बुला कर यह पूछने लगे कि बताओ तुम्हें क्या दीखता है? किसी ने कहा कि सामने आकाश, पेड़ और पक्षी दिखाई दे रहे हैं। किसी ने पेड़ और पक्षी का नाम लिया। किसी ने कहा केवल पक्षी दिखाई देता है। किसी ने पक्षी की आंख के दीखने की बात कही। अर्जुन से जब पूछा गया तो उस ने उत्तर दिया कि पक्षी की आंख की पुतली और तीर के अग्रभाग की नोक दिखाई दे रही है। अर्जुन पास हो गया और शेष विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। यह अर्जुन के गहरे अवधान की ही महिमा थी कि जिस ने अर्जुन की दृष्टि को, वृक्ष से, पक्षी से और उस की आंख से भी हटा कर केवल आंख की पुतली पर केन्द्रित कर दिया। संसार में मनुष्य की सफलता का रहस्य ही इस में छिपा हुआ है कि उसे अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न दे। मनुष्य सफलता का अभिलाषी है और अवधान के बिना कार्य-क्षेत्र में उस की

सफलता की कोई सम्भावना नहीं। हां अवधान अवश्य ही फल को बल पूर्वक समीप ले आता है। यों भी सूर्य की किरणें वस्त्र पर सदा पड़ा ही करती हैं, परन्तु वे ही किरणें जब आतशी शीशे के द्वारा केन्द्रित हो कर वस्त्र पर पड़ती हैं तो वस्त्र को जला देती हैं। ठीक इसी प्रकार अवधान के द्वारा केन्द्रित हुई हुई दृष्टि लक्ष्य की विशेषताओं को भी जान लेती है, और लक्ष्य तक पहुंचने की शक्ति को भी जागृत कर देती है। सफलता के अभिलाषी विद्यार्थियों को यह गुर सीखना चाहिये।

त्वक्

स्पर्श की विशेषताओं को जानने का साधन हमारा त्वक् इन्द्रिय है। यों तो शीतल वायु हमारे शरीर के साथ कई बार छुआ करता है, और हम कहा करते हैं कि शीतल वायु चल रहा है। परन्तु जिस त्वचा को अवधान की दीक्षा मिली है वह शीतलता की विशेषता को जान कर यह बतलाने में भी समर्थ हो जाती है कि आज वर्षा आने वाली है। गरमी की किसी विशेषता को जान कर भी सावधान त्वचा हमें वर्षा की सूचना दिया करती है। अंगुलियों के पोरुवे नाड़ी के ऊपर रख कर रोग को पहचानना सावधान त्वचा का ही काम है। आकांक्षा के प्रबल प्रयोग और दैवमन के गहरे संयोग से उदय हुए अवधान का प्रकाश जिस त्वचा को अधिक मात्रा में मिला होगा वह ही रोगों की अधिक से अधिक विशेषताओं को जानने में समर्थ हो सकेगी। कई वैद्य अपनी अवधान से प्रभावित त्वचा की

विशेष शक्ति से रोगी की मृत्यु का दिन एक मास पहिले बतलाने में भी समर्थ देखे गये हैं। कई वस्त्रों के व्यापारी ऐसे देखे गये हैं जो वस्त्र को छू कर ही उस के तारों की संख्या बतला दिया करते हैं। इस इन्द्रिय का विकास अन्धे मनुष्यों में अधिक मात्रा में देखा गया है। और वह इस लिये कि आंखें न होने के कारण उन्हें कई स्थानों पर आंखों का काम भी त्वचा से ही लेना पड़ता है, और इसी लिये अपनी इच्छा-शक्ति का पूर्ण प्रयोग कर अवधान को जगाते हुए अपने इस इन्द्रिय को विकसाने की उन्हों ने विशेष चेष्टा की है। अक्षरों पर अंगुली फेर कर उन्हें पहिचान लेना और छू कर रूप को जान लेना साधारण बात नहीं है। इस दृष्टान्त से विद्यार्थी यह भली भांति समझ सकते हैं कि इच्छा-शक्ति की कितनी महिमा है। मन की एकाग्रता और अवधान को जन्म देने वाली, एक रेखा में बहने वाली इच्छा-शक्ति-रूप गङ्गा की तरङ्गें ही हैं।

खुले मैदान से बह कर आने वाला हमारा परिमित पानी मैदान में फैल जाता है और हमारे खेत तक नहीं पहुंच सकता। परन्तु नाली बना कर चलाया हुआ वह ही खेत तक भली भांति पहुंच जाता है और खेत को सींच देता है। इसी प्रकार बिना नियन्त्रण के सर्वत्र फैली हुई हमारी इच्छा-शक्ति हमारे मन को एक स्थान पर केन्द्रित करने में समर्थ नहीं हुआ करती। परन्तु वह ही जब सब ओर से हटा कर एक ध्येय की ओर बहा दी जाती है, तो मन को साथ लेकर विषय की गहराई में जा घुसती है और

उन उलझनों को सुलझा दिया करती है जिन का कि सुलझना हम असम्भव समझा करते थे। हम आशा करते हैं कि हमारे विद्यार्थी आकांक्षा के इस महत्व को समझने की चेष्टा करेंगे और अवधान के अभ्यास को बढ़ा कर त्वचा की सोई हुई शक्ति को जगाने की चेष्टा करेंगे।

श्रोत्र

हमारे मन का, श्रोत्र भी एक महत्व पूर्ण सहायक है। शब्द से प्रकट होने वाला कोई भी ज्ञान का प्रकाश ऐसा नहीं जो इस इन्द्रिय की सहायता के विना हमारी आत्मा तक पहुंचता हो। विद्यार्थी विद्यालय में पढ़ रहा है, इसी भाव को प्रकट करने के लिये दूसरा वाक्य यह बोला जा सकता है कि गुरू का ज्ञान विद्यार्थी के पास आ रहा है। गुरू के इस ज्ञान रूपी सन्देश को विद्यार्थी तक पहुंचाने वाले, गुरू की वाणी से निकले हुए, शब्द हैं। ये शब्द विद्यार्थी के कानों में जाकर प्रकट होते हैं। शब्द रूपी फूलों की झड़ी लगी हुई है। सावधान मन-भ्रमर प्रत्येक फूल में से ज्ञान रूपी पराग को चुन रहा है, और इस प्रकार इस पराग के एक एक मणके को अवधान के सूत्र में पिरो कर एक शृङ्खला-बद्ध ज्ञान-माला प्रस्तुत की जा रही है। जब कि आत्मा की इच्छा मन को हिलने नहीं दे रही, गम्भीर अवधान लगा हुआ है, इस अवसर पर यदि किसी कारण से इच्छा का अंकुश ढीला पड़ गया, मन का हाथी स्थान से डोल गया और अवधान की शृङ्खला टूट गई, तो ज्ञान की जो शृङ्खला-बद्ध माला प्रस्तुत हो रही थी उस का तार टूट

जाता है। विद्यार्थी के हाथ से तीर निकल गया। अब वह अवधान को फिर जोड़ना चाहता है। परन्तु प्रथम तो उखड़ा हुआ मन ठहरता कहां है? और यदि प्रबल प्रयत्न से ठहरा भी लिया गया, तो माला के बीच के कई मणके निकल जाने से अब वह शृङ्खला जुड़ती नहीं। फलतः उस शृङ्खला-बद्ध माला को देख देख कर विद्यार्थी की जो मनोरञ्जकता बढ़ रही थी अब वह फीकी पड़ जाती है। यही कारण है कि पाठ पढ़ने के बाद परीक्षा लेने पर कई विद्यार्थी तो उत्तर ठीक दे देते हैं और कईओं को मौन धारण करना पड़ता है। ये वे ही असफल विद्यार्थी हैं जिन का कि अवधान बीच में टूट गया था, मन लगा नहीं और पाठ समझ नहीं सके। विद्यार्थी समझ रहे होंगे कि उस समय अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से मन को न रोक कर उन विद्यार्थियों ने कितनी भूल की है। उन का एक महत्व-पूर्ण दिन तो व्यर्थ गया ही, इस के साथ ही उन के मन को यह अभ्यास भी हो गया कि वह किसी एक काम को करते समय चञ्चल वायु की भांति किसी दूसरी ओर भाग जाया करे। अतः जो विद्यार्थी विद्याभ्यास में सफल होना चाहते हैं, उन्हें नीचे लिखी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

१—उन्हें पाठ पढ़ने जाने से पहिले अपने सब आवश्यक कार्यों को समाप्त कर देना चाहिये।

२—गुरू के पास श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से जाना चाहिये। जिस से कि उन के एक एक अक्षर को वे श्रद्धा से सुनें और उसे हृदय में बैठा सकें।

३—पाठ पढ़ने बैठते समय अपने दृढ़ सङ्कल्प के प्रभाव से अपने मन की शक्तियों को उस शब्द-माला और विचार-धारा पर केन्द्रित कर देना चाहिये जो कि गुरू के मुख से निकल और प्रकट हो रही है।

४—पाठ के समय उन्हें अपने साथियों के, गलियों के और आस पास के अन्य सब शब्दों को बहरे कानों पर पड़ने की भांति अनसुने कर देना चाहिये।

५—उन्हें यह दृढ़ निश्चय कर के बैठना चाहिये कि आज के पाठ का एक भी शब्द अथवा भाव ऐसा न होगा जो उन के कानों और उन की बुद्धि की पकड़ से बाहर रह सके।

६—किसी कारण हो गई उपेक्षा के कारण हाथ से निकला हुआ एक भी शब्दार्थ उन्हें खोए हुए अमूल्य रत्न के समान पश्चात्ताप की दृष्टि से देखना चाहिये।

यदि विद्यार्थी ऐसा कर सकें तो ठीक है, और यदि उन्हों ने उपेक्षा की तो उन्हें समझ लेना चाहिये कि अपनी असफलता में वे स्वयं कारण हैं, कोई और नहीं। अपनी बुद्धि और स्मरण-शक्ति की निर्बलता में उन के अवधान की निर्बलता कारण है, बुद्धि का स्वभाव नहीं। विद्यार्थी को यह भी समझ रखना चाहिये कि वह श्रोत्र-इन्द्रिय के साथ अपने अवधान को लगाने में सहसा सफल न हो सकेगा। उसे इस के लिये निरन्तर घोर प्रयत्न करना पड़ेगा। एक काम को करते समय दूसरे काम को ध्यान में लाने का जो उस को

अभ्यास हो गया है, उसे तोड़ने के लिये उसे मन के साथ निरन्तर संग्राम करना पड़ेगा। जिस काम को वह इस समय कर रहा है, क्रिया और विचार-धारा दोनों उसी काम की ओर अग्रसर हो रही हों, दूसरी और किसी घटना का उस समय ध्यान ही न आवे, ऐसा प्रयत्न उसे करना पड़ेगा।

आपने देखा होगा कि जिस समय आप सोने के लिये बिस्तर पर लेट जाते हैं उस समय आप को दिन के कार्यों की कई घटनाएं याद आया करती हैं, उन पर आप विचार भी आरम्भ कर देते हैं, और उस उधेड़ बुन में नींद देरी से आया करती है। परन्तु यह न भूल जाना चाहिये कि यह समय सोने का है, दिन की घटनाओं को याद करने का नहीं। आप की सारी शक्तियें इस समय नींद को लाने में ही व्यय होनी चाहियें। रजोगुण के प्रभाव से बढ़ी हुई मन की चञ्चलता और व्यग्रता के बन्द हुए बिना, तमोगुण की वृत्ति–निद्रा का प्रकाश में आना कठिन है। अतः उस समय मन के सब व्यापार बन्द हो जाने चाहियें। सुना है कि संग्राम के अवसर पर भी नैपोलियन जब सोना चाहा करता था, तो एक मिनट में ही उस के हृदय-पटल से संग्राम के सब चित्र ओझल हो जाया करते थे, और उसे तत्काल ही नींद आ जाया करती थी। नैपोलियन को मन की इस एकाग्रता में यह सफलता उस के एक दिन अथवा एक मास के परिश्रम का परिणाम होगी, यह बात नहीं। उस ने विद्यार्थी जीवन में एक और एक ही कार्य करने का अभ्यास अवश्य किया होगा। और यह चीज़ नैपोलियन के ही भाग में आई थी,

यह बात नहीं । प्रत्येक विद्यार्थी अवधान के अभ्यास से अपनी शक्तियों को एक ही प्रस्तुत कार्य पर केन्द्रित कर सकता है। और इस प्रकार पाठ को समझने में उस के कान उस की पूरी सहायता कर सकते हैं।

श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान के सञ्चय का विद्यार्थी-जीवन का हमने एक दृष्टान्त दिया है। इस इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान के सञ्चय के लिये अपने जीवन में प्रत्येक मनुष्य के सामने अनेक अवसर आते हैं। कभी हम महर्षियों के ग्रन्थ पढ़ रहे होते हैं। कभी सत्पुरुषों के उपदेशों में वेद-वाणी की लाभ-दायक कथा सुना करते हैं। कभी भगवद्भक्तों के मनोहर गान का श्रवण करते हैं। परन्तु ये सारे ही अवसर हमारे लिये उपयोगी और लाभ-दायक सिद्ध हुआ करते हैं, ऐसी बात नहीं है। वह ही धन हमारा है जिसे हम ने अपनी सन्दूकड़ी में गिन कर और सम्भाल कर रख लिया होगा। और ठीक वह ही सुना हुआ शब्द हमारा है, जिसे हमने अवधान के द्वारा भली भांति सुन और समझ कर अपने चित्त की सन्दूकड़ी में संभाल कर रख लिया है। शेष सब शब्द चिकने घड़े पर पड़े हुए पानी के समान हैं। और हमें समझ लेना चाहिये कि अवधान के बिना किया गया हमारे श्रोत्र का यह प्रयास और हमारा समय निष्फल गया। श्रोत्र के विषय में अधिक न लिख कर हम अपने विद्यार्थियों को अपने दैवमन को अवधान की ओर अग्रसर करने के लिये एक बार फिर प्रेरणा करेंगे।

मन

हमारे मन इन्द्रिय का कार्य-क्षेत्र बाहर नहीं अन्दर है। ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि गुणों का साक्षात्कार आत्मा को इसी इन्द्रिय के सहयोग से होता है।

ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष, राग आदि गुणों को महर्षि गौतम और कणाद के अनुयायी आत्मा के धर्म मानते हैं, तथा महर्षि कपिल आदि के अनुयायी अन्तःकरण के धर्म मानते हैं। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि गौतम आदि ने संसार दशा में अन्तःकरण अथवा मनोमय कोष को आत्मा से पृथक् करना नहीं चाहा। क्योंकि आत्मा और मनोमय कोष का सहयोग इतना घना है कि वह परस्पर मिश्रण का रूप धारण कर गया है। अतः एक के गुण दूसरे में प्रतीत होते रहते हैं। और सांसारिक व्यवहार के लिये इस को पृथक् कर के बतलाने की आवश्यकता न थी। इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय जहां तत्व-ज्ञान अथवा मोक्ष है, इस के साथ अभ्युदय भी है। और अभ्युदय कहते हैं लौकिक सुख को। और व्यवहार के काल में इन गुणों के पृथक् करके बतलाने की आवश्यकता भी न थी। मोक्ष में जाकर तो उन्हों ने भी इन्हें पृथक् कर ही दिया है। नैयायिक और वैशेषिक लोग भी मोक्ष में, आत्मा में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणों को नहीं मानते। तात्पर्य स्पष्ट है कि वहां अन्तःकरण रहा नहीं अतः उस के गुण भी नहीं रहे। यदि वे यथार्थ में इन गुणों को आत्मा के मानते होते तो क्योंकि आत्मा नित्य है अतः गुण भी नित्य होते, और मोक्ष

में इन का अभाव कहना असम्भव हो जाता। यह स्मरण रखना चाहिये कि इन्हों ने मोक्ष में, आत्मा में उस ज्ञान का अभाव कहा है जो विषय से उत्पन्न हुआ था, और इसी प्रकार प्रयत्न का भी। आत्मा के अन्दर जो जानने की और प्रयत्न की स्वाभाविक शक्ति है, जिसे कि वास्तविक ज्ञान और प्रयत्न कहा जा सकता है, वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं होती–नित्य है। परन्तु सांख्य और योग का प्रतिपाद्य विषय है ही प्रकृति पुरुष विवेक। अतः अन्तःकरण-रूप प्रकृति को पुरुष–आत्मा से पृथक् कहते समय उन्हें अन्तःकरण के गुणों को भी पुरुष से पृथक् करना ही पड़ा। परन्तु पुरुष की स्वाभाविक शक्ति जो ज्ञान था, जिसे कि उन्हों ने चैतन्य कहा है, इसे उन्हों ने भी पुरुष से नहीं हटाया–उस के पास ही छोड़ दिया। इस निरीक्षण के बाद इन दोनों शास्त्रों में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता अतः इस विषय में विशेष तर्क वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं।

पाश्चात्य लोगों का विचार है कि इन इन्द्रियों के अतिरिक्त और भी ज्ञान-इन्द्रिय हैं जो कि अभी विकास में नहीं आए। जैसे कि अन्त्रों पर होने वाली किन्हीं वेदनाओं अथवा प्रभावों का हमें अनुभव हुआ करता है, परन्तु अनुभव को प्रकाश में लाने वाले इन्द्रिय का अभी नाम-करण नहीं हुआ। इसी प्रकार हमें भूख का अनुभव हुआ करता है, परन्तु वह किस इन्द्रिय से होता है, इस का अभी तक कुछ पता नहीं।

इस विषय में हमारा निवेदन यह है कि ये और इसी प्रकार के और भी जितने अनुभव हैं वे सब हमें मन के द्वारा

ही प्राप्त हो जाते हैं। मन भी एक इन्द्रिय है और जिस प्रकार वह अन्दर होने वाले आत्मा के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों का स्वयं अनुभव कर लेता है, इसी प्रकार अन्दर की अन्त्रों और भूख-प्यास आदि की वेदनाओं का अनुभव भी वह स्वयं ही कर लेता है। बाहर के विषयों का प्रत्यक्ष करने के लिये उसे अन्य इन्द्रियों की आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि बाहर उस की पहुंच न थी। परन्तु शरीर में तो वह सब जगह स्वयं ही विद्यमान् है, वहां उसे और इन्द्रिय की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। यह दूसरी बात है कि मन का कोई भाग हृदय में मन के रूप में और कोई मस्तिष्क में बुद्धि के रूप में रह कर काम कर रहा है, परन्तु जिसे हम मनोमय समष्टि कहते हैं वह सारे शरीर में विद्यमान् है। योगी को अन्दर के सब नाड़ी-तन्त्र का भी नेत्रों की भांति ही प्रत्यक्ष हो जाया करता है। यह सब कार्य हमारे मन का ही है।

बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान को प्राप्त करने के बाद मनन और निदिध्यासन की बारी आती है। युक्तियों से ज्ञान के बार बार किये गये परीक्षण को मनन कहते हैं। और इस के अनन्तर अवधान से मन को एकाग्र कर गम्भीरता से सर्वांश में प्रत्यक्ष करते हुए उस ज्ञान को आत्मा के कोष-में संभाल कर रख देने का नाम निदिध्यासन है। मनन और निदिध्यासन बार बार किये गये ज्ञान के ही एक प्रकार के मानस प्रत्यक्ष हैं। जब तक दैवमन पूरे अवधान से मनन और निदिध्यासन के प्रकाश में प्राप्त किये हुए ज्ञान की पूरी

जांच कर उसे स्थिर नहीं कर लेता, तब तक उस का टिकना असम्भव है। हम प्रतिदिन कितनी ही बातों को जानते हैं और भूल जाते हैं। वे ज्ञान हमारे पास अपने किसी भी चिन्ह को छोड़ नहीं जाते। हमारी इस विस्मृति में कारण है, ज्ञान को प्राप्त करते समय हमारी उपेक्षा। न हम ने उस ज्ञान को पूरी आकांक्षा से प्राप्त किया और न फिर उस के संभालने की चेष्टा ही की। अपनी इस उपेक्षा से उस ज्ञान को तो हम ने हाथ से खो ही दिया, इस के साथ ही मन में इस अभ्यास को भी जन्म दे दिया कि वह किसी ज्ञान को प्राप्त करते समय उपेक्षा किया करे—अवधान से काम न लिया करे। स्मरण रहे कि विद्यार्थी के लिये किसी ज्ञान का भूल जाना जितना हानि-कारक है, उस से कहीं अधिक हानि-कारक मन को उपेक्षा की आदत का पड़ जाना है।

"मैं फूल को चाहता हूं" यह इच्छा का प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष मन और आत्मा के सम्बन्ध से हुआ है। और इस के ठीक अनन्तर ही "मैं फूल को लेने का यत्न करता हूं" यह प्रयत्न का प्रत्यक्ष हुआ करता है। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन का जन्म क्रम से एक दूसरे के बाद हुआ करता है। जिस प्रकार ज्ञान को संभाल रखने के लिये अवधान की आवश्यकता है, इसी प्रकार इच्छा को भी सफल बनाने के लिये अवधान चाहिये। हम ने अपनी आत्मा में कितनी ही इच्छाओं को उत्पन्न होते हुए और विना ही कुछ किये नष्ट होते हुए देखा है। प्रतीत होता है कि हमारे दैवमन ने उन इच्छाओं की अपने अवधान के

प्रकाश में भली भांति देख भाल नहीं की। अन्यथा ऐसी
इच्छाओं को वह प्रकाश में आने ही न देता, जिन का कि
कार्य-क्षेत्र में आकर फलित होना ही असम्भव है। आत्मा
को बहुधा मन के लड्डू खाने का अभ्यास हुआ करता है।
कभी वह राजा बनने की इच्छा उस समय भी कर बैठता
है जब कि उस के पास उस सत्ता को प्राप्त करने के साधनों
की कोई सम्भावना ही नहीं होती। आत्मा में ऐसी इच्छाओं
का उत्पन्न होने देना और उन्हें फिर जीवित रहने देना, उस
की इच्छा-शक्ति पर प्रबल कुठाराघात है। संग्राम-भूमि में
जिस योद्धा के तीर लक्ष्य से भ्रष्ट हो रहे हों उस का उत्साह
भङ्ग हो जाता है, और उस के भाग्य में पराजय ही लिखी
होती है। ठीक इसी प्रकार जीवन-संग्राम में जिस आत्मा
की इच्छाएं और मनोरथ उत्पन्न हो हो कर बिना कोई फल
उत्पन्न किये नष्ट हो रहे हों, वह अपने आप को इस जीवन-
संग्राम का हारा हुआ सिपाही मानने के लिये विवश हो
जावेगा। इस लिये सफलता के अभिलाषी विद्यार्थी के लिये
आवश्यक है कि वह अपने दैवमन को अपने अवधान के
प्रकाश में अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं के
प्रत्यक्ष के साथ साथ उन की पड़ताल करने की प्रेरणा करे।
और उसे आदेश करे कि वह ऐसी इच्छाओं को जो कि अना-
वश्यक हों, और जिन के सफल बनाने का आत्मा के पास
कोई साधन नहीं, तत्काल नष्ट कर दे। और भविष्य में आत्मा
में असहयोग की एक ऐसी ऊषर भूमि उत्पन्न कर दे, जिस
में कि ऐसी इच्छाओं के उत्पन्न होने का अवसर ही न

मिल सके।

इच्छा होने पर भी हम कई कार्यों को आरम्भ किया करते हैं और बीच में ही छोड़ देते हैं। इस अवसर में किया हुआ हमारा सब प्रयत्न निष्फल चला जाता है। उस कार्य को छोड़ने में कई कारण हुआ करते हैं। कभी हमें उस कार्य के लिये उपयोग में लाये हुए साधन निर्बल प्रतीत होने लगते हैं। कभी हम उन साधनों के प्रयोग में अपने आप को अशक्त पाया करते हैं। कभी हम उस कार्य का फल अपने लिय, अथवा जिस उद्देश्य से हम ने वह कार्य आरम्भ किया था उस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, प्रतिकूल प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार के और भी कई कारण आ खड़े होते हैं। परन्तु ये सब बातें हमें अपने उस कार्य को आरम्भ करने से पहिले सोच लेनी चाहियें थीं। फिर चाहे हमें उस कार्य के आरम्भ करने में वर्षों का विलम्ब हो जाता। और चाहे हम उस कार्य को आरम्भ न भी कर सकते। परन्तु ऐसी अवस्था में अपने प्रयत्न के व्यर्थ जाने के बुरे दिन तो हमें देखने न पड़ते। पहाड़ पर चढ़ते हुए जिस मनुष्य के हाथ की लाठी खिसक गई हो और मुंह के बल गिरा हो उस का फिर से उठना साधारण बात नहीं। इस से तो यह ही अच्छा था कि वह पहाड़ पर चढ़ना ही आरम्भ न करता, और यदि चढ़ना आरम्भ कर दिया था तो उसे अपनी लाठी को टेकते समय सावधानता को हाथ से न जाने देना चाहिये था। ठीक इसी प्रकार हमें किसी कार्य को आरम्भ करते समय उस कार्य की सिद्धि के सब साधनों

की और उस के साथ ही अपने प्रयत्न के बल की, अवधान द्वारा पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिये। और कार्य आरम्भ करने के बाद भी अपने प्रयत्न के रथ के पहिये के साथ अवधान का प्रबल स्तम्भन (ब्रेक) लगा रखना चाहिये। जिस से कि प्रबल विघ्न आने पर भी यह रथ पीछे हटने का अभ्यासी न होने पावे। इस प्रकार विद्यार्थी को प्रयत्न का प्रत्यक्ष करते समय अवधान द्वारा उस के पूर्व और उत्तर की सब विशेषताओं का प्रत्यक्ष करना चाहिये।

अब हमारे विद्यार्थी समझ गये होंगे कि अवधान अथवा दैव-मनोयोग अपनी जीवन-चर्या में मनुष्य के कितने काम की वस्तु है। हम आशा करते हैं कि वे अपने प्रत्येक कार्य को करते हुए अपने इस सर्वोत्तम साथी का कभी साथ न छोड़ेंगे।

अब तक हम ने दैवमन का निर्देश करने वाले, मनोविज्ञान के प्रथम मन्त्र के एक भाग "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्" का व्याख्यान किया है। और उस व्याख्यान के साथ साथ कुछ अभ्यास विद्यार्थियों के लाभ के लिये उपस्थित किये हैं। अब हम इस मन्त्र के दूसरे भाग "तदुसुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमम्" का व्याख्यान, और छात्रों के लाभ के लिये उसी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अभ्यास प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

प्रथम भाग में हम ने "उदैति" शब्द का उदय होना अर्थ लिखा था। मन्त्र के इस भाग में "उदैति" के स्थान में "एति" शब्द है। परन्तु इस के साथ आया हुआ "तथैव"

शब्द पहिले भाग से "उत्" शब्द को लाकर यहां भी "एति" शब्द के साथ मिला देने की सूचना देता है। इन दोनों को मिला देने पर यहां भी "उदेति" शब्द बन जाता है और उस का भी उदय होना अर्थ हो जाता है। अब इस मन्त्र-भाग का यह अर्थ होगा :—

जिस प्रकार बाह्य अथवा आभ्यन्तर विषयों का प्रत्यक्ष करते समय जागृत अवस्था में इन्द्रियों की सहायता के लिये दैवमन रूपी चन्द्रमा का उदय होता है, उसी प्रकार सोते समय अर्थात् स्वप्न-अवस्था में चित्त-पट पर खिंचे हुए, संस्कार रूपी चित्रों का प्रत्यक्ष करते समय भी मन की सहायता के लिये दैवमन रूपी चन्द्रमा का उदय होता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि स्वप्न-अवस्था में संस्कारों का प्रत्यक्ष करने वाला भी मन ही है। फिर वह मन आप ही अपना सहायक कैसे होगा?

पाठकों ने पढ़ा होगा कि यहां मन का विशेषण "दैव" शब्द आया है। और मन दैव तब बनता है जब वह "ज्योतिषां, ज्योतिः, एकम्" (प्रकाशों का एक प्रकाश) बनता है। और इन्द्रिय-ज्योतियों का प्रकाशित करने वाला प्रकाश वह तब बनता है जब कि अवधान के बल से अपने आप को उत्तम ज्योति बना लेता है। अतः उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण में साधारण मन का सहायक दैवमन है। अर्थात् जो कार्य अनवधान-दशा में मन नहीं कर सकता था, अवधान-दशा में वह ही उस कार्य को भली भांति कर सकता है।

यहां प्रत्यक्ष की आधार-अवस्था स्वप्न-अवस्था है, और

इस अवस्था में प्रत्यक्ष होने वाले विषयों का भी इस अवस्था के साथ गहरा सम्बन्ध है, अतः स्वप्न-अवस्था में भासने वाले विषयों और स्वप्न के स्वरूप का इकट्ठा ही वर्णन इस प्रसङ्ग में किया जावेगा।

जब हम दिन में कार्य करते करते थक जाया करते हैं, रजोगुण निर्बल पड़ जाता है तो तमोगुण की वृत्ति–निद्रा प्रकट हो कर हमारे सब इन्द्रियों की शक्ति को ढांप लिया करती है, इसे ही सुषुप्ति कहते हैं। परन्तु इस से पहिली एक और अवस्था है जहां बाह्य-इन्द्रियों का काम तो बन्द हो जाता है परन्तु रजोगुण की कुछ मात्रा मन में अभी जागृत रहती है, अतः मन काम करता रहता है। अब उस के कार्य में अशक्त होने के कारण बाह्य इन्द्रिय तो उस का साथ देते नहीं, विवश वह बहिर्मुख न हो कर अन्तर्मुख हो जाता है। अन्दर उस के अनुभव के लिये और तो कोई विषय था नहीं चित्त के ऊपर पड़े हुए विषयों की छाया रूप संस्कारों को ही वह देखना आरम्भ कर देता है। रजोगुण की मात्रा अभी इस में विद्यमान् है, चञ्चल होने के कारण एक स्थान पर टिक नहीं सकता, अतः "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा" की भांति किसी संस्कार का कोई और किसी का कोई अङ्ग लेकर एक नई ही वस्तु घड़ लिया करता है। जैसे कि किसी संस्कार में मनुष्य की छाया देख ली, वहां से झट चल कर दूसरे संस्कार में पक्षी के पंख देख लिये, पक्षी के पंखों का मनुष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया। और कल्पनाचार्य तो यह

है ही, मनुष्य के उड़ने की, संस्कार के ही बल से कल्पना कर डाली, और इस के ठीक बाद ही लगा उड़ते हुए मनुष्य देखने। और मन में आया तो कभी आप भी उड़ना आरम्भ कर दिया। वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य के कथन के अनुसार स्वप्न में उड़ने के दृश्य मनुष्य तब ही देखा करता है, जब उस के शरीर में वायु की प्रधानता हो। पित्त के प्रधान होने पर अग्नि में चलने अथवा बड़े बड़े अग्नि-काण्डों के और कफ के प्रधान होने पर जल पर तैरने या डूबने के स्वप्न दिखाई दिया करते हैं। कारण यह है कि जो तत्व शरीर में प्रधान होता है मन में भी वह प्रधान ही होगा, और इसी लिये उस के प्रभाव का स्वप्न पर पड़ना आवश्यक है। कई स्वप्नों की सृष्टि वे कर्म-फल-भोग के आधार पर भी मानते हैं। ऐसे स्वप्न आया करते हैं जिन से हमें सुख या दुःख हुआ करता है। इस लिये ऐसे स्वप्न कर्म-फल-भोग भुगाने के लिये हमारे सामने आया करते हैं। परन्तु बहु-संख्यक स्वप्नों की सृष्टि चित्त पर पड़े हुए विषयों और भावनाओं के संस्कारों पर ही निर्भर है। यह प्रश्न हो सकता है कि कभी कभी हम स्वप्न में ऐसा पेड़ भी देखा करते हैं जिस पर मोती फल लगे हुए होते हैं। परन्तु ऐसा पेड़ तो भूमण्डल पर है नहीं, यह स्वप्न आया कैसे? इस का उत्तर हम दे आये हैं। ऐसे स्वप्न मन में शेष रही हुई रजोगुण की चञ्चलता के परिणाम हैं। हम ने वृक्ष को देखा हुआ है और उस का संस्कार चित्त में है। मोतियों को भी देखा है और उन का संस्कार भी चित्त में है; विक्षिप्त मन ने एक एक करके इन दोनों संस्कारों

को देख लिया, विचित्र दृश्य देखने की भावना से दोनों का संयोग कर दिया और मोतियों वाले वृक्ष की सृष्टि कर डाली। कभी कभी स्वप्न में ऐसे दृश्य भी सामने आजाते हैं जिन का कोई भी अङ्ग न देखा हो। ऐसे दृश्यों को विवश हमें चित्त पर पड़े हुए किसी और जन्म के संस्कार कहना पड़ेगा।

इस प्रकार हम ने स्वप्न और उस के विषयों का संक्षिप्त सा वर्णन अपने विद्यार्थियों के सुभीते के लिये कर दिया है। अब हम यह बतलाने का यत्न करेंगे कि वेद के इस उपदेश के अनुसार, स्वप्न के विषयों पर दैवमन के योग अथवा अवधान का प्रयोग किस प्रकार कर सकते हैं, और उस से क्या क्या लाभ उठा सकते हैं।

वस्तुतः अवस्थाएं तो दो ही होनी चाहियें; जागृत और सुषुप्ति। जागृत कार्य करने के लिये और सुषुप्ति कार्य से थके हुए अङ्गों को विश्राम देने के लिये। यह तीसरी अवस्था बीच में कहां से आ कूदी जिस का प्रत्यक्ष लाभ कोई भी दिखाई नहीं देता। और यदि हम जागृत के अनन्तर तत्काल ही मन के विक्षेप को बन्द कर सकें तो उसी समय सुषुप्ति के आजाने से इस अवस्था का अभाव करने में भी समर्थ हो जावेंगे। सुषुप्ति से प्रथम अवधान के द्वारा मन में इस प्रकार की शक्ति का उत्पन्न कर देना युक्ति-युक्त भी है। कोई कोई मनुष्य ऐसे भी देखे गये हैं जिन्हें स्वप्न नहीं आता और जागृत से सीधे सुषुप्ति में चले जाते हैं। सम्भवतः उन के मन से रजोगुण की चञ्चलता स्वभाव से लुप्त हो गई होगी। परन्तु इच्छा से मन में इस शक्ति का उत्पन्न करना

साधारण बात नहीं। यदि विद्यार्थी ऐसा कर सकें तो उन्हें बड़े लाभ की सम्भावना है। मन में, स्वप्न में चञ्चलता का स्थिर रहना, विक्षेप के पाठ को याद करना है। और मन का विक्षेप ही विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में एक प्रतिबन्ध है। सुषुप्ति का बहुत सा समय यह विक्षेप लेजाता है और अङ्गों की थकावट पूरी दूर न होने से शारीरिक शक्ति का क्रम से ह्रास होने लग जाता है। अतः स्वप्न की अवस्था का सर्वथा अन्त न भी किया जासके, फिर भी उस में जितनी भी कमी हो सके विद्यार्थी को उतना ही लाभ है। इस कार्य की सिद्धि के लिये कुछ उपाय नीचे दिये जाते हैं :—

१—विद्यार्थी को अपने सोने के ६ घण्टे निश्चित कर लेने चाहियें, और नियत समय से एक भी मिनट पहिले अथवा पीछे न सोना चाहिये और न जागना चाहिये। ऐसा करने से नियत समय पर नींद आजाया करेगी, और नियत समय पर आंखें खुल जाया करेंगी। यदि आंखें जल्दी खुल जाती हों तो सोने का समय उतना ही कम कर देना चाहिये। बहुधा स्वप्न तब आया करते हैं जब हम नींद आये बिना सो जाया करते हैं, और जागने पर भी आलस्य से खाट पर पड़े रहा करते हैं।

२—सोने से पहिले अपनी इच्छा-शक्ति से अपने दैवमन पर ऐसा प्रभाव डालना चाहिये कि वह यह सोचता हुआ कि आज स्वप्न का निरोध करेंगे, गहरे अवधान में पहुंच जावे। यद्यपि हम सो जावेंगे परन्तु अवधान से सज्जित हुआ हुआ हमारा दैवमन सोते समय भी हमारी स्वप्न-अवस्था के मार्ग में रोड़े अटका रहा होगा।

३—सोने से पहिले आत्मा को, सोने की प्रबल इच्छा को बार बार जगाना चाहिये, जिस से कि उसे पूरा बल मिले और दैवमन पर उस के प्रभाव की छाप गहरी पड़े।
४—हमारा कार्य करने और बैठने का स्थान सोने के स्थान से पृथक् हो, और ठीक सोने के समय ही हम वस्त्र निकाल कर और सन्नद्ध होकर सोने के स्थान पर आवें।
५—सोने के समय हमारे हाथ में कोई पढ़ने की चीज़ न होनी चाहिये, कोई बात करने वाला हमारे पास न होना चाहिये और दीपक शान्त कर देना चाहिये।
६—खाट पर लेटते ही हमें अङ्ग शिथिल कर देने चाहियें, विचार धारा तथा सङ्कल्प सर्वथा बन्द कर देने चाहियें, और अपनी सब चेतन अचेतन सत्ताओं को गहरे अन्धकार में लीन कर देना चाहिये।

सुषुप्ति लाने के लिये इतना अभ्यास कुछ काल करने के बाद हमारे विद्यार्थी देखेंगे कि वे स्वप्न अवस्था से शनैः शनैः छुटकारा पा रहे हैं।

स्वप्न अवस्था में मन काम करता रहता है, वहां उस की क्रियाओं के नियन्त्रण में अवधान का प्रयोग उपयोगी है। परन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो इस का काम भी बन्द हो जाता है, वहां दैवमन का उदय अथवा अवधान किस प्रकार काम करेगा?

इस में कोई सन्देह नहीं कि सुषुप्ति अवस्था में मन विश्राम करता है और जहां तक स्वयं करने का सम्बन्ध है इस का काम बन्द हो जाता है। परन्तु विश्राम करते समय यह अपने कार्य का उत्तर-दातृत्व अपने साथी धृतिमन के

ऊपर छोड़ जाता है। धृतिमन क्या है, इस का व्याख्यान हम इस के प्रकरण में ही करेंगे। यहां विद्यार्थी केवल हमारे कथन से इतना मानलें कि यह मन की एक ऐसी अवस्था है, जो सुषुप्त अथवा अचेतन के रूप में है। धृतिमन सदा कार्य करता रहता है, इस का कार्य कभी बन्द नहीं होता। सुषुप्ति में प्राण का सञ्चालन करना, जिस के द्वारा जठराग्नि आदि शरीर के अङ्गों की क्रियाएं होती हैं, इसी मन का काम है।

जब हम यह प्रणिधान करके सोया करते हैं कि चार बजे उठेंगे, और ठीक चार बजे ही आंखें खुल जाया करती हैं, तो हमारा मन यद्यपि विश्राम में चला गया था, परन्तु दैवमन के अवधान का काम, धृतिमन को सौंपे हुए उस के प्रकाश के द्वारा सुषुप्ति में भी हो रहा था। उसी का यह फल है कि किसी के जगाये बिना ही हमारी आंखें ठीक चार बजे खुल जाया करती हैं। विद्यार्थियों को यदि धृतिमन से काम लेने का अभ्यास हो जावे तो उन के अनेक बड़े से बड़े कार्य बिना कठिनाई के सिद्ध हो सकते हैं। मन का यह भाग बड़ा शक्ति-शाली है। और सुषुप्ति में प्रणिधान के द्वारा दैवमन ने धृतिमन में उद्बोध की क्रिया का एक प्रकार से आरम्भ कर दिया है।

शिवसङ्कल्प—आचार-निर्माण

ऊपर के पाठ में हम ने दैवमन तथा उस के सहयोगी ज्ञान-इद्रियों के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाई हैं। और इसी प्रसङ्ग में विद्यार्थियों के लिये लाभ-दायक कुछ अभ्यासों का भी निर्देश किया है। अब हम इन्हीं इन्द्रियों से सम्बन्ध

रखने वाले कुछ उपदेश विद्यार्थियों की हित-सिद्धि के लिये लिखने लगे हैं। उन का निर्देश इस मन्त्र के अन्तिम भाग :–

"तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"

(वह मेरा मन, शुभ विचार-धाराओं का स्वामी बने) में किया है। और यह शुभ विचार-धारा ही आचार-निर्माण का एक मात्र साधन है। और आचार-निर्माण विद्यार्थी-जीवन का एक महत्व-पूर्ण अङ्ग है। उस के शरीर, मन और बुद्धि-रूपी भवन की उत्तमता का निर्माण इसी आधार-शिला के ऊपर होता है। यह ही विद्यार्थी को देव, मुनि और महर्षि की पदवी तक पहुंचाने वाला है। भगवान् राम, कृष्ण और महर्षि दयानन्द जैसे महापुरुष इसे ही अपनी महत्व-पूर्ण सम्पत्ति मानते रहे हैं और अपने सर्वस्व का बलिदान देकर भी इस की उन्हों ने सदा रक्षा की है।

हम ने अवधान के द्वारा इन्द्रियों को शक्ति-शाली बना, विषय की गहराई तक पहुंचने की विद्यार्थियों को प्रेरणा की है। विषय के सारे अङ्गों की देख भाल जहां उन के लिये लाभ-दायक है, इस के विपरीत विषयों में आसक्ति उन के लिये हानि-कारक भी है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द आदि विषयों का मार्मिक विवेचन करते हुए ज्ञान की चरम सीमा तक पहुंचने के बाद विद्यार्थी को उन में उलझ न जाना चाहिये। उदाहरण के रूप में गन्ध को जान लेना तो विद्यार्थी का धर्म है परन्तु उस का आस्वाद लेना उस का धर्म नहीं। फूल की सारी विशेषताओं को हम ने जान लिया है, ज्ञान की दृष्टि से वहां कुछ शेष नहीं रह गया, फिर हमें बार

बार उस फूल के ही पास जाने की इच्छा क्यों होती है ? इस में कुछ रहस्य है। मन के किसी पर्दे में गूढ़ रूप से छिपी हुई गन्ध के आह्लाद की भावना ही हमें बार बार उस फूल के पास जाने के लिये विवश किया करती है। जब हम बाग़ में फूल के पास नहीं जा सकते तो बाज़ार में गांधी के पास चले जाते हैं, और फूल का इतर ख़रीद कर बालों और कपड़ों को लगा अपनी उस आसक्ति और आस्वाद की आकांक्षा को पूरा किया करते हैं। हमारी यह आकांक्षा यहीं पर समाप्त नहीं होजाती कि हम ने इतर की गन्ध को सूंघ लिया है। हम और आगे बढ़ते हैं, और यह चाहा करते हैं कि हमारी इस गन्ध को कोई और सूंघे, हमारी ओर देखे और हमें अच्छा कहे। हम किसी दूसरे के बालों और कपड़ों में लगी हुई इस सुगन्धि को यदि अपनी से बढ़िया पाते हैं, तो दूसरे दिन उस से भी अच्छी प्राप्त करने की चेष्टा किया करते हैं। यह कामना आगे चल कर और भी कई रूप धारण किया करती है, जिन का कि यहां वर्णन करना हमें उचित नहीं समझते। हम यहां दिखलाना यह चाहते हैं कि विद्यार्थी के मन की विचार-धारा का प्रवाह अब विद्या की ओर न बह कर किसी दूसरी ओर बह चला है। यह प्रवाह अब उस ओर बह रहा है जहां अन्त में इसे अनाचार के गहरे गढ़े में गिरना पड़ेगा। एक ओर यह अवस्था है, और दूसरी ओर इस के मन में विद्या के चुम्बक की ओर खिंचने की जो शक्ति थी वह निर्बल होने लगती है। पानी का झुकाव एक ही ओर हो सकता है, दोनों ओर नहीं। इस प्रकार सदाचार भी गया और ज्ञान के प्रकाश से भी हाथ धो बैठे। इसी

लिये विद्यार्थी के लिये ऋषियों ने उपदेश दिया है :—

"कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय" (नाच, गान, तेल-फुलेल और श्रृङ्गार के लिये अञ्जन लगाना छोड़ दो)।

ऋषियों का यह एक मार्मिक उपदेश है। हम इन क्रियाओं को साधारण समझा करते हैं, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हम जब व्यवहार में आकर गम्भीर दृष्टि से देखा करते हैं तो जिन विद्यार्थियों में श्रृङ्गार की कामना देखते हैं उन्हें आचार से गिरा हुआ पाते हैं। जो स्वभाव से सादे और सरल रहने के अभ्यासी होते हैं उन में बहुधा सदाचार की भावनाओं का सञ्चार देखते हैं। और जितने आचार-शील महापुरुष हुए हैं उन सब का रहन सहन और व्यवहार सर्वथा सरल देखते हैं। अतः विद्यार्थियों को दुनिया के दूसरे लोगों को श्रृङ्गार करते हुए देख, उन का अनुकरण कर, अपने आप को परीक्षा में न डालना चाहिये। अनुकरण के योग्य वे ही महापुरुष हैं जिन्हों ने अपनी कर्म-परम्परा से अपना तथा संसार के लोगों का कल्याण किया है। ऐसे महापुरुषों में श्रृङ्गार की भावना कहीं नाम मात्र को भी देखने में नहीं आती। अतः आचार-निर्माण की कामना रखने वाले ब्रह्मचारियों से हम एक बार फिर कहेंगे कि विज्ञान की दृष्टि से विषय का विवेचन उस की गहराई में जाकर निःशङ्क करो, परन्तु आसक्ति का पदार्पण आरम्भ होते ही उस से कोसों दूर भाग जाओ। और यह भी उन्हें समझ रखना चाहिये कि श्रृङ्गार अनाचार का दूत है और सरलता सदाचार की जननी है।

गन्ध की भांति ही कोमल स्पर्श और मधुर आदि रसों

की लालसा में पड़ा हुआ विद्यार्थी भी ब्रह्मचर्य के राज-मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर पड़ जाता है। कितना ही यत्न करे इन विषयों की कामना का पेट विद्यार्थी कहां तक भरेगा। क्योंकि :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

इच्छा, इच्छा के विषय को भोग लेने से शान्त नहीं होजाती। जिस प्रकार आहुति डालने से अग्नि कम नहीं होती बढ़ती है, इसी प्रकार विषय की आहुति डालने से कामना की अग्नि भड़कती है कम नहीं होती। कोमल स्पर्श उसे आलसी बना कर पड़े रहने और इसी लिये निरन्तर स्वप्न देखते रहने से ब्रह्मचर्य के पथ से भ्रष्ट कर देता है। इसी लिये ऋषियों ने ब्रह्मचारी के लिये "उपरिशय्यां वर्जय" (ऊपर कोमल शय्या पर न सोओ) का उपदेश देते हुए उस के लिये भूमि-शय्या का विधान किया है।

मधुर आदि रसों के लोलुप विद्यार्थी भी आवश्यकता से अधिक तीक्ष्ण रसों का उपयोग कर ब्रह्मचर्य को भङ्ग कर लेंगे। और रस की ओर ही मन का अधिक आकर्षण होने के कारण विद्या-व्रत से भी हाथ धो बैठेंगे। इसी लिये ऋषियों ने विद्यार्थी के लिये भिक्षा के अन्न का विधान किया है। भिक्षा का अन्न सेवन करने से रस की लालसा विद्यार्थी को सता ही न सकेगी। क्योंकि भिक्षा में उसे जैसा अन्न मिलेगा वैसा ही खा लेने की उस की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जावेगी। वर्तमान काल में यदि भिक्षा के अन्न का सुभीता

न भी होसके फिर भी अपने अन्न को भिक्षा के अन्न की भांति ही जीवन-यात्रा के निर्वाह की दृष्टि से सेवन करना चाहिये, आस्वाद की दृष्टि से नहीं।

ब्रह्मचारी के जीवन के सामने एक महान् उद्देश्य है। वह अपने मन में, अपने समाज के और जाति के उत्थान की विचार-धारा बहाना चाहता है। परन्तु जिस विद्यार्थी को विषयों की कामनाओं का पेट भरने से ही अवकाश नहीं मिलता, उस के मन में इस प्रकार की शुभ-सङ्कल्प की विचार-धारा का सञ्चार कैसे होगा? अतः प्रत्येक विद्यार्थी को विषय-कामना के गर्त से निकल कर आचार-निर्माण की ओर पग आगे बढ़ाना चाहिये।

श्रोत्र इन्द्रिय के विषय शब्द का आकर्षण भी किसी अन्य विषय से कम नहीं है। राग-रङ्ग का आकर्षण तो इतना बड़ा आकर्षण है कि मनुष्य को सब कुछ भुला देता है। और फिर वर्तमान काल में तो इस का क्षेत्र इतना विकृत होगया है कि अधिक राग-रागनियों का निर्माण आचार से पतित करने वाली भावनाओं को ही लक्ष्य में रख कर किया गया है। और इसी लिये ऋषियों ने ब्रह्मचारी के लिये 'कौशी-लव' (नाच-गाग) का निषेध किया है। साम-गान के गाने और सुनने का कहीं निषेध नहीं, विधान ही किया गया है। इस में कारण यह है कि साम में सब के सब भगवत्स्तुति के ही गान हैं। और भगवत्स्तुति मनुष्य की आत्मा में विज्ञान तथा सदाचार की ज्योति को जगाती और अज्ञान तथा अनाचार के अन्धकार को उस से दूर करती है। और आत्मा में इस भावना का जगाना ही विद्यार्थी-जीवन का एक

मात्र लक्ष्य है।

आज कल सिनेमा देखने वाले विद्यार्थियों को जब रोका जाता है तो वे इस के देखने में तीन हेतु उपस्थित किया करते हैं। एक तो वे कहा करते हैं कि यह एक शिल्प है और हम इसे शिल्प की दृष्टि से देखने जाते हैं। दूसरा हेतु वे यह बतलाया करते हैं कि जब दिन भर काम करके थक जाते हैं तो कोई मन-बहलाव की सामग्री चाहिये, और यह मन-बहलाव का एक अच्छा साधन है। तीसरा हेतु वे यह दिया करते हैं कि कई फ़िल्में बड़ी शिक्षाप्रद होती हैं, और ऐसी अच्छी व्यावहारिक शिक्षा पाने के लिये ही हम सिनेमा देखने जाया करते हैं।

हम समझते हैं कि ये तीनों ही हेतु हेत्वाभास हैं। और इन्हें यथार्थ हेतु समझ कर विद्यार्थी अपने आप को धोखे में डाल रहे हैं। हम मान लेते हैं कि सिनेमा एक शिल्प है। परन्तु सिनेमा में कार्य-कर्ता लोगों ने उस शिल्प की शिक्षा का विद्यालय नहीं खोला हुआ, वहां तो वे केवल चित्र दिखाया करते हैं। और उन चित्रों के सम्भाषण और हाव-भाव से कोई काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक घटना सामने आजाया करती है। किसी भाव को किसी पात्र ने किस प्रकार प्रकट किया है, यह एक शिल्प कहा जा सकता है, जिसे देखने वाले देख सकते हैं। परन्तु इस से उन्हें क्या लाभ? यह भाव उन्हें देखने पर भी स्वयं प्रकट करना तो आ नहीं जाता। और आ भी गया तो भी मन के उस ओर झुक जाने से विद्या में बाधा और आचार का पतन आवश्यक है। न आया फिर भी शृङ्गार-रस से पूर्ण हाव भावों और उसी

प्रकार के रागों से अपने मन में काम-वासना को जागृत कर अपने ब्रह्मचर्य का पतन वे अवश्य कर लेंगे।

दूसरे हेतु में कहा गया है कि कोई मन-बहलाव की सामग्री चाहिये। यदि मानसिक पतन की सामग्री से भी मन-बहलाव होता होता तो हम इस हेतु को ठीक मान लेते। परन्तु मानसिक पतन के साधन मन की थकावट को कभी दूर नहीं कर सकते, वे तो उसें और भी निर्बल बना देंगे। सिनेमा के शृङ्गार-पूर्ण नाच-रङ्ग के वायु-मण्डल में सदाचार भी कभी पनप सकेगा, इस बात की साक्षी कोई बुद्धिमान् न दे सकेगा। और मन का बल है सदाचार अतः सिनेमा देखने वाले मनुष्य के मन की थकावट दूर नहीं हो रही, प्रत्युत मद्य के नशे की तरह उसे उस की प्रतीति मात्र हो रही है। वस्तुतः वह आचार के पतन से मन में थक और निर्बलता को जन्म दे रहा है। मन की थकावट तो दूर होगी शिवसंकल्प से।

तीसरा हेतु दिया गया है कि कई फ़िल्में शिक्षाप्रद होती हैं। हम तो समझते हैं कि कोई फ़िल्म कितनी भी शिक्षाप्रद क्यों न हो उस में भी साधारण जनता के आकर्षण की सामग्री अवश्य रक्खी जाती है। परन्तु यदि हम किसी फ़िल्म को सर्वाङ्ग में भी शिक्षाप्रद मानलें, फिर भी हमें उस से सिनेमा देखने की आदत तो अवश्य पड़ जावेगी। और पड़ी हुई वह आदत हमें सिनेमा देखने के लिये फिर भी विवश करेगी। नित्य शिक्षाप्रद फ़िल्में तो होती नहीं विवश हमें दूसरी प्रकार की फ़िल्में देखनी पड़ेंगी। और ऐसी अवस्था में आचार का पतन फिर सामने है।

अतः वेदों और ऋषि-ग्रन्थों का स्वाध्याय, गुरुओं तथा महापुरुषों के उपदेश और भगवदुपासना के भजन कीर्तन का, श्रोत्र-इन्द्रिय से श्रवण और उसी का मनन ही विद्यार्थी के आचार-निर्माण की उत्तम सामग्री है।

रूप का विषय शब्द से भी अधिक आकर्षक है। यद्यपि आंखें भगवान् की विचित्र रचना का सौन्दर्य देखने के लिये ही बनाई गई हैं और उस के देखने का निषेध भी शास्त्र-कार नहीं करते। निषेध किया जाता है रूप में आसक्त होने का। एक स्थान पर दृष्टि का सदुपयोग करने के लिये किसी महात्मा ने लिखा है :—

मातृवत् पर-दारेषु पर-द्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान, और सब को अपनी आत्मा के समान देखता है, उसी की दृष्टि ठीक है। भगवान् के इस चमत्कार को देखने वाला जब तक इस सारे दृश्य में भगवान् को और भगवान् के अधिकार को देख रहा है तभी तक उस की दृष्टि ठीक है। परन्तु जब वह उस दृश्य में आसक्त होजाता है और उसे स्वाधीन करने का प्रयत्न आरम्भ कर देता है, उसी समय उस की दृष्टि में अन्तर आजाता है। इन में से पहिली दृष्टि उस के आचार का निर्माण कर रही थी और दूसरी के आरम्भ होते ही उस का पतन आरम्भ होजाता है। पर-स्त्री को देखते ही उस पर अपना अधिकार न समझ हृदय में मातृ-भावना और पर-धन में मिट्टी की भावना का

भाव साधारण वस्तु नहीं। परन्तु यह कार्य कितना ही कठिन क्यों न हो, ब्रह्मचारी इसे सिद्ध किये बिना ब्रह्मचारी नहीं। और यदि वह इस के विपरीत चलता है तो ऐसी दशा में वह "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (उस का दिया खाओ) का उपासक नहीं रहता। ब्रह्मचारी की शोभा वैराग्य में है, आसक्ति में नहीं। वह संसार के रूप-सौन्दर्य और ऐश्वर्य की ओर आकर्षित होना जानता ही नहीं। उस की आसक्ति के दो ही विषय हैं-विद्या और सदाचार। उस के नेत्रों ने यदि रूप और सौन्दर्य में आसक्ति को छोड़ कर इन दो वस्तुओं के कमाने का उसे अवसर दे दिया तो उस के नेत्र भी सार्थक हुए और उस का यह आश्रम भी सफल हुआ। परन्तु यदि इन्हों ने उसे रूप में ही उलझा रक्खा तो उस का जीवन-भवन आधार-शिला के बिना निराधार और अत एव पतन-शील बनेगा।

यद्यपि इन्द्रियों की बाग-डोर मन के हाथ में है और अपनी वासनाओं के कारण मन में जब विक्षेप है तो उस के आदेशानुसार चलने वाली इन इन्द्रियों का क्या अपराध? यह ठीक है कि मन में विक्षेप है, वह चञ्चल है और इस के स्थिर किये बिना इन्द्रिय निश्चल लक्ष्य पर ठहर नहीं सकते; परन्तु मन भी तो एक इन्द्रिय है और उस का भी नियन्त्रण करना विद्यार्थी के कर्तव्यों में से एक है। जिस वैराग्य का, नेत्र का वशीकरण करने के लिये हम ने ऊपर नाम लिया है, वह ही वैराग्य मन के निरोध का भी एक मूल-मन्त्र है। हम ब्रह्मचारी को सर्वतोभावेन राग के दूर करने का आदेश नहीं देते। इस के विपरीत अन्यत्र से हटा कर विद्या और

आचार-निर्माण में उस के राग की शक्ति को केन्द्रित करना चाहते हैं। और किसी स्थान से राग को उखाड़ने का वैराग्य के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। भगवान् कृष्ण ने भी कहा है :—

अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

"अर्जुन! मन की चञ्चलता अभ्यास और वैराग्य से हटाई जासकती है" वैराग्य के विषय में हम इन्द्रियों के प्रकरण में कुछ निर्देश कर आए हैं, वह ही दिशा मन को भी अनिच्छित विषय से विरक्त करने की है। अभ्यास के विषय में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (मन की स्थिति के लिये यत्न करने का नाम अभ्यास है)। मन को किसी विषय पर स्थिर करने के लिये उस में उसी प्रकार की उत्साह-पूर्ण विचार-धारा का सञ्चार कर उसे उस ओर आकर्षित करने की चेष्टा का नाम ही "स्थिति के लिये यत्न" है। अवधान के सहयोग से यह कार्य और भी उत्तमता से सम्पादित होता है। उदाहरण के रूप में हम अपने मन को एक फूल पर ठहराना चाहते हैं परन्तु उस की इच्छा वहां से भाग आने की है। तो हम फूल के गुणों और उस से होने वाले लाभों का वर्णन आरम्भ कर देंगे। पहिले पहिले मन ने इस ओर ध्यान न दिया तो हम अपने वर्णन को और भी मनोरञ्जक रूप देते चले जावेंगे। यदि वह फिर भी न माना तो वह जिस विषय पर जाना चाहता है, उस के दोषों और उस से होने वाली हानियों का वर्णन आरम्भ कर देंगे। उधर आत्मा की इच्छा-शक्ति का प्रयोग करेंगे और इधर

अवधान पर बल देंगे। फिर आप देखेंगे कि हम सफल होगये हैं।

इस प्रकार हम ने इस मन्त्र के व्याख्यान को समाप्त करते हुए विद्यार्थियों को शिवसङ्कल्प और उस के आधार पर होने वाले आचार-निर्माण का इन्द्रियों की व्याख्या के प्रसङ्ग में ही उपदेश दिया है। अब हम इस प्रसङ्ग से योगाभ्यासी सज्जन किस प्रकार लाभ उठा सकते हैं इस विषय में कुछ लिखने का यत्न करेंगे।

योगाभ्यासियों के लिये अभ्यास

उपेक्षा, अवधान

इन्द्रियों से विषयों को जानते समय विद्यार्थियों को उन के विभाग कर उन की थाह तक पहुंचना चाहिये, यह हम पहिले लिख आये हैं। और इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिये विद्यार्थी दैव-मनोयोग द्वारा अवधान की शरण लें, यह भी निर्देश कर आये हैं। परन्तु उन्हीं विषयों पर योगियों के अभ्यास के प्रसङ्ग में हम ने अवधान के साथ ही उपेक्षा का भी नाम लिया है। विद्यार्थी वाटिका में खड़ा होकर फूलों की गन्ध का विश्लेषण कर उस की सब विशेषताओं को पृथक् पृथक् जानना चाहता है। परन्तु योगी उस की गहराई में जाना तो दूर रहा, उस मिश्रित गन्ध के स्थूल रूप को भी नासिका से ओझल कर देना चाहता है। और इसी का नाम है उपेक्षा। अपने अपने अधिकार में और लक्ष्य में भेद है। विद्यार्थी तत्वों की सब विशेषताओं पर घुमाने के लिये बुद्धि के चक्र को चलाना चाहता है। परन्तु

योगी इस के विपरीत अपने पहिले भी व्यावहारिक ज्ञान को भुलाने के लिये उस चक्र को ठहराने का यत्न कर रहा है। योगाचार्य भगवान् कृष्ण के उपदेश में हम ऐसी ही भावना का निर्देश पाते हैं। उन्हों ने लिखा है :—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ गीता २।५३

शास्त्र की विचार-धारा के चक्र पर चढ़ी हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में स्थिर होगी तब समझना कि तू ने योग पालिया।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि बुद्धि के चक्र को घुमाने में इन्द्रियों का चक्र ही मुख्य कारण है। यदि हम बुद्धि को रथ का पीछे का पहिया कहें तो इन्द्रियों को रथ के आगे के पहिये कहेंगे। इस लिये यह बात स्वतः सिद्ध है कि योगी को बुद्धि के चक्र को रोकने के लिये इन्द्रियों के चक्रों को अवश्य रोकना पड़ेगा। और इन्द्रियों के चक्रों को रोकने का प्रधान साधन है विषयों की उपेक्षा। इसी लिये तो योगिराज कृष्ण कहते हैं :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता २।५८

जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ, पैर, ग्रीवा आदि अङ्गों को अपने अन्दर सुकेड़ लेता है, इसी प्रकार जब योगी पूर्ण रूप से इन्द्रियों को उन के विषयों से हटा कर अपने अन्दर समेट लेता है, तब समझना कि इस की बुद्धि ठहर गई।

परन्तु जब हम थोड़ा और भी आगे बढ़ कर देखते हैं

तो इन इन्द्रियों के चक्रों के भी आगे एक और चक्र घूमता हुआ पाते हैं। और इस दृश्य को देखते ही अनायास यह धारणा जाग उठती है कि इस चक्र के स्थिर हुए बिना इन्द्रियों के चक्रों को स्थिर करने की कामना, मनोमोदक के सिवाय और कुछ नहीं। हमारे बतलाये बिना ही पाठक समझ गये होंगे कि यह चक्र मन का चक्र है। और इसी लिये इस प्रसङ्ग में कृष्ण भगवान् ने फिर लिखा है :—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित-प्रज्ञस्तदोच्यते ॥ गी. २।५५

अर्जुन ! जब अपने लिये अपने आप को ही चाहता हुआ अपने स्वरूप में ही सन्तुष्ट हो जावेगा और अन्य सब कामनाओं को जो कि मन में घूम रही हैं, छोड़ देगा तो तब समझ लेना कि बुद्धि ठहर गई।

यहां कामनाओं की उपेक्षा पर बल दिया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इस विषय का स्पष्टीकरण इसी प्रकार किया है। योग के आठ अङ्गों की गणना करते हुए उन्हों ने पांचवां अङ्ग प्रत्याहार लिखा है। और उस का लक्षण इस प्रकार किया है :—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

इन्द्रिय अपने विषयों से सम्बन्ध तोड़ कर जब चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करने लगें, तो उसे प्रत्याहार कहेंगे। महर्षि के इस लेख का तात्पर्य भी यह ही है कि विषय-जाल में दौड़ते हुए इन्द्रियों के इस चक्र को रोके बिना

योग-मार्ग की प्राप्ति कठिन है। उन का प्रत्याहार आवश्यक है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिये उन की बाहर की गति को रोक कर उन्हें अन्तर्मुख करना चाहिये। तात्पर्य स्पष्ट है–योगी के लिये विषय-जाल से उपेक्षा करना आवश्यक है।

इन्द्रियों को बाहर से हटा कर अन्तर्मुख करने का योगी को अभ्यास करना पड़ेगा, केवल मात्र इस उपदेश को सुन लेने और समझ लेने मात्र से इन्द्रियों पर अधिकार न होजावेगा। इन्द्रियों के लिये जैसे प्रलोभन बाहर हैं उन से कहीं सुन्दर और आकर्षक प्रलोभन उन्हें देने होंगे, अथवा बाहर के प्रलोभन अत्यन्त हानि-कारक सिद्ध करने होंगे। आप जानते हैं कि इन्द्रियों की पीठ के पीछे मन का और उस के भी ऊपर आत्मा की इच्छा का हाथ है। अतः उस इच्छा को जब तक हम ऊपर लिखी भावना में न रङ्ग देंगे तब तक वह बल-पूर्वक इन्द्रियों को विषयों से खींचने की चेष्टा न करेगी। इच्छा को इस भावना में रंगते ही वह इन्द्रियों को अवश्य यह उपदेश देना आरम्भ कर देगी कि ऐ इन्द्रियो! इस बाहर के स्थूल विषय-जाल में भूल कर क्यों ठोकरें खा रहे हो? क्या तुम्हें मालूम नहीं कि इस स्थूल जगत् से परे एक और विस्तृत और अत्यन्त सुन्दर सूक्ष्म जगत् है? वह इस गगन-मण्डल में विश्वमानस में विराजमान है। तुम्हारे चित्त की वहां तक पहुंच है, यदि तुम बाहर के विषय-जाल से हट कर उस का साथ दो। वहां पहुंचने पर तुम देखोगे कि वहां के अनाहत नाद की एक झङ्कार की समानता यहां के सारे राग और रागनियां मिल कर नहीं कर सकते। इस जगत् में हीरे जवाहरात आदि कोई कोई दृश्य चमत्कार

वाले दिखाई देते होंगे, परन्तु वह सारा ही जगत् चमत्कार-मय है। इस संसार की सुगन्धि वहां की एक महक में ही भूल जाती है। वहां के रस के माधुर्य का वर्णन किसी शब्द से नहीं किया जासकता। वहां के अद्वितीय स्पर्श की तो महिमा ही निराली है। यह ऊपर का सब उपदेश कोई पहेली नहीं, यथार्थ घटना है। विश्वास करो और प्रमाण के लिये किसी महायोगी से जाकर पूछ लो। और फिर विशेषता यह कि ये सब बाहर के विषय क्षण-विनाशी और वे चिर-स्थाई।

हमारी इच्छा के इस प्रभाव-शाली व्याख्यान से इन्द्रियों को अवश्य चित्त की ओर पीछे लौटना पड़ेगा। परन्तु योगी को पहिले इच्छा पर यह रंग चढ़ाना अवश्य पड़ेगा।

इन योग के अङ्गों को ही उन्हों ने भी बुद्धि-चक्र की स्थिरता अथवा बुद्धि के विकास का साधन माना है, लिखा है :—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः।

योग के अङ्गों पर आचरण करने से मल दूर होते हैं, बुद्धि का विकास होता है और यह प्रकाश, विवेक-ज्ञान अथवा मुक्ति के द्वार तक योगी को पहुंचा देता है।

मनश्चक्र के निरोध के बारे में भी उन की ऐसी ही सम्मति है। इस चक्र के निरोध को तो उन्हों ने साक्षात् योग का ही नाम देदिया है। योग का लक्षण करते हुए उन्हों ने कहा है :—

योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः।

चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। यह चित्त का वृत्ति-चक्र ही चित्त की चञ्चलता का कारण है। अतः इस का निरोध करने से स्वतः सिद्ध मनश्चक्र का निरोध होजावेगा।

प्रसङ्ग-वश हम ने इन दो योगाचार्यों की सम्मतियें योगाभ्यासी सज्जनों के लाभ के लिये उद्धृत कर दी हैं। इस पुस्तक में यह प्रकरण ज्ञान-इन्द्रियों का चल रहा है। और इस प्रकरण के अनुसार ही हम यह दिखलाने की चेष्टा कर रहे हैं कि ज्ञान-इन्द्रियों का किस प्रकार का उपयोग योगि-जनों के लिये लाभ-दायक हो सकता है।

हम ने इन प्राचीन योगाचार्यों की उपदेश-माला के अनुसार ही संक्षेप में विषयों से उपेक्षा करने का निर्देश, योगिजनों के लाभ के लिये इस प्रकरण के आरम्भ में किया था। परन्तु जो चक्र अज्ञात-काल से चल रहा है उस का सहसा रोक देना कोई साधारण बात नहीं। परन्तु यह भी उचित प्रतीत नहीं होता कि हम इस कार्य को अत्यन्त कठिन समझ कर अपनी शक्ति से बाहर समझते हुए हाथ पर हाथ रख कर बैठ ही रहें। यदि यह कार्य हमारे लिये अशक्य होता तो महर्षि दयानन्द जैसे अनुभवी योगिराज सब मनुष्यों के लिये योगाभ्यास के नित्य अनुष्ठान करने का विधान न कर जाते। हां इस में कोई सन्देह नहीं कि जब तक हम ने चलना आरम्भ नहीं किया, एक कोस की यात्रा भी हमारे लिये पहाड़ की ऊंची चोटी के समान है। परन्तु जब हम साहस कर चलना आरम्भ कर देते हैं तो बड़े बड़े पहाड़ों की चोटियों का पार कर लेना भी हमारे बायें हाथ का खेल होजाया करता है।

यह ठीक है कि ज्ञान-इन्द्रियों का चक्र चिर-काल से चल रहा है और इस का निरोध कठिन है। परन्तु इस के साथ ही यह भी ठीक है कि यह निरोध असम्भव नहीं। क्योंकि अनेक ज्ञानी महापुरुष इस निरोध में सफल हो सिद्ध योगिजनों की नामावली में नाम लिखा चुके हैं और लिखा रहे हैं। हमें साहस करना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि जिस दिन भी हम इस पवित्र कार्य को आरम्भ करेंगे वह पहिला दिन होगा और उस दिन का हमारा कार्य न होने के समान होगा। परन्तु चींटी ने भी तो जिस दिन अपना घर खोदना आरम्भ किया, उस दिन पहिले मिट्टी का एक छोटा सा कण ही निकाला था। उसे क्या पता था कि कुछ दिनों के बाद उस के घर के बाहर मिट्टी का एक बड़ा ढेर होगा और उस का घर कई गज़ गहरा होगा। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि कठिन अवसर आने पर भी चींटी कभी निराश नहीं हुई और उस का कार्य उस की शक्ति के अनुसार निरन्तर चलता रहा। ठीक इसी प्रकार दृढ़ सङ्कल्प के साथ कार्य को चालू रखता हुआ ही मनुष्य सफलता-देवी के दर्शन कर सकता है। और फिर योगी का कार्य तो ऐसा है जिस का फल शीघ्र दृष्टिगोचर होना ही कठिन है। विक्षिप्त मन का कितना अंश उस के अधिकार में आगया, इस की प्रतीति उसे वर्षों के कार्य-क्रम के अनन्तर बड़ी कठिनाई से होगी। और उसे दूसरों पर अपने कार्य के परिणाम को प्रकट करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये तो बड़ा समय चाहिये। अतः इस मार्ग में अग्रसर होने वाले अभ्यासी के लिये पहिली बात है धैर्य, और अपने सङ्कल्प में

अटल रहने की धारणा। इस के अनन्तर जब वह ज्ञान-इन्द्रियों का निरोध करना आरम्भ करेगा तो जैसा हम पहिले लिख आये हैं आरम्भ में उसे अपने मन-इन्द्रिय की बागडोर हाथ में संभालनी होगी। ऋषियों ने जब इन्द्रियों को घोड़े कहा है तो मन को लगाम कहा है। और जब तक लगाम सीधी न होगी घोड़ों का सीधे मार्ग पर चलना कठिन है। अब प्रस्तुत कार्य-क्रम यह है कि योगी को मन पर अधिकार करने के लिये उस के लिये कोई कारागार (जेलखाना) बनाना चाहिये। परन्तु यह भी याद रहे कि यदि इसे उस ने कारागार ही समझ लिया तो वह एक क्षण भी इस में ठहरेगा नहीं। अतः अभ्यासी के लिये यह भी आवश्यक है कि वह इस कारागार को ऐसी सुन्दर चित्र-शाला बनादे जिस से यह निकलने की इच्छा ही न करे। योगी यह समझ रक्खे कि वह अपने मन को शिक्षित करने चला है। और यदि आरम्भ में ही मूर्ख अध्यापक की भांति उस ने उसे ठोकना पीटना आरम्भ कर दिया, अर्थात् अरुचि-कर स्थान में रोकना आरम्भ कर दिया तो वह उस मार्ग से कभी आने का भी नाम न लेगा। अतः योगी आरम्भ में अपने मन को जिस स्थान या वस्तु पर रोकने की इच्छा करता है उसे मनोरञ्जक बनाने की चेष्टा करे। इसी के लिये महर्षि पतञ्जलि ने कहा है :—

यथाभिमतध्यानाद्वा।

जो वस्तु अथवा स्थान मन को बहुत प्यारा हो उसे उस पर ठहराने का यत्न करो। उदाहरण के लिये यदि हम

अपने मन को अपने भृकुटि देश में अथवा किसी फूल पर ठहराना चाहते हैं, तो पहिले हमें उस स्थान अथवा उस फूल के गुण-गान कर उस से प्रेम बढ़ाते हुए अपनी इच्छा को उस स्थान अथवा फूल पर इतना आकर्षित कर देना होगा कि वह श्रद्धा का रूप धारण करले। योगी को यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि श्रद्धा मनोयोग की जननी है। जो वस्तु हमारी श्रद्धा माता की गोद में होगी इस में कोई सन्देह नहीं कि इसी माता की गोद में बैठा हुआ मन निरन्तर इस के साथ प्यार करता रहेगा। परन्तु मन का प्रेम इस के अतिरिक्त किसी और वस्तु से भी हो सकता है। और उस के सामने आते ही यह पहिली वस्तु को छोड़ सकता है। ऐसी अवस्था में योगी को अपनी धारणा के आधार फूल अथवा भृकुटि-प्रदेश की और भी शाखाओं का लुभावना व्याख्यान मन के सामने उपस्थित कर देना चाहिये। वह एक ही वस्तु पर बंधा हुआ उकता गया था। अब उस के सामने उसी वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली और बहुत सी नई नई सामग्री ला ला कर क्रम से रख देनी चाहिये। वह सामग्री उसे नई वस्तु भी मिल जावेगी और उस का उस धारणा की वस्तु के साथ लगाव होने के कारण मन के सामने हमारी वह मूल वस्तु भी स्थिर रहेगी। उदाहरण के रूप में हम अपने फूल की पंखड़ियों को गिनना आरम्भ कर देंगे। उस की केसर और उस की सुगन्धि का चित्र खींचना आरम्भ कर देंगे। उस फूल से बनने वाली अनेक औषधियों और उन के लाभों का निर्देश करने लगेंगे। फूल के बीज और बीज से उस की उत्पत्ति के प्रकार तथा

उस के पालन पोषण की प्रक्रिया का वर्णन आरम्भ कर देंगे। यद्यपि हमें यह प्रतीत होगा कि हम धारणा के आधार फूल के अतिरिक्त और वस्तुएं सामने ले आये और अपने लक्ष्य से डोल गये। हमारा यह विचार ठीक है, परन्तु इस के बिना निर्वाह भी नहीं। मन को नई नई वस्तु पर जाने का अभ्यास है, और यदि वह फूल पर से दौड़ कर किसी और वस्तु पर जा बैठता तो हमारे फूल से बहुत दूर चला जाता। अब तो हम ने उसे उस की इच्छा के अनुसार नई सामग्री भी देदी है और हमारा फूल भी उस के सामने है। थोड़ी देर के बाद एक तर्क-पूर्ण विचार-धारा के द्वारा नई नई वस्तुओं को ला कर जब वह थक जावेगा, तो वह उन सा ı नई वस्तुओं को छोड़ देगा और हम फिर अपना वही फूल उस के सामने रख देंगे। वे वस्तुएं इसे विचार-द्वारा परिश्रम से मिली थीं और हमारा फूल अनायास मिलेगा, अतः यहां ठहर जावेगा। इस के अतिरिक्त ऐसे स्थान पर योगी को अपनी सहायता के लिये अवधान चाहिये। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि योगी उस समय अपनी इच्छा-शक्ति का मन के प्रकाश पर और भी अधिक बल-पूर्वक प्रयोग करे। जिस प्रकार सावधान होकर सरल रेखा पर ठहराया हुआ आतशी शीशा सूर्य के प्रकाश को एक बिन्दु पर स्थिर रखता है बिखरने नहीं देता, ठीक इसी प्रकार इच्छा-शक्ति का शीशा अवश्य ही मन के प्रकाश को उस वस्तु अथवा स्थान से विचलित न होने देगा। और फिर हमें बार बार उसी वस्तु पर एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी एक ही प्रकार की मनोवृत्ति का तांता बांध देना चाहिये।

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि हम सदा के लिये अपने मन को इस वस्तु से बांध नहीं रहें। हमें आगे चल कर ऐसी भावना को जगाना होगा कि हम उस वस्तु के स्वरूप को भूलते जारहे हैं। और फिर अवस्था ऐसी आजानी चाहिये कि हम यह तो समझते रहें कि हमारा मन जहां ठहरा हुआ है वह कुछ है, परन्तु यह न पता रहे कि वह क्या है। अभ्यास की जो यह प्रक्रिया हमने लिखी है महर्षि पतञ्जलि ने इसे प्रत्याहार के बाद के योग के तीन अङ्गों द्वारा प्रकट किया है।

जब हम प्रत्याहार में सफल होजावें, अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर चित्त का खिलौना उन के हाथ में दे चुकें, तो अब हमें मन को मुट्ठी में लेने का यत्न करना चाहिये। और इस के लिये उन्हों ने धारणा नामक योग के अङ्ग का नाम लिया है। इस का लक्षण करते हुए उन्हों ने लिखा है :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

चित्त को किसी वस्तु या स्थान पर बांध देने अथवा स्थिर करने का नाम धारणा है। परन्तु 'चञ्चलं हि गुणवृत्तम्' प्राकृतिक वस्तुएं स्थिर नहीं होतीं। और किसी वस्तु अथवा स्थान का रूप धारण की हुई मन की वृत्ति-रूपी धारणा भी एक प्राकृतिक वस्तु है, अतः वह भी स्थिर न रहेगी। तो फिर आगे क्या करना चाहिये? इस के उत्तर में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ध्यान करो। और ध्यान का लक्षण करते हुए उन्हों ने लिखा है :—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

इस के बाद उसी वस्तु पर उसी आकार की एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी वृत्ति का निर्माण करते चलो, जिस से कि मन के अन्दर वह एक ही वस्तु भासती चले। फिर प्रश्न होता है कि इस ध्यान के परिपक्क होजाने पर फिर क्या करें? इस के उत्तर में महर्षि कहते हैं कि इसी मार्ग पर चले चलो, परन्तु इस वस्तु के स्वरूप को भुलाना आरम्भ करदो। अब जब वह स्वरूप भूल जावेगा तो तुम सविकल्प समाधि में पहुंच जाओगे। इस समाधि का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

जब उस ध्यान में वस्तु तो शेष रह जावेगा परन्तु उस का स्वरूप भूल जावेगा तो उसे समाधि कहेंगे।

पाठक गम्भीर दृष्टि से सोचें कि उपेक्षा की यह कितनी पराकाष्ठा है। यह तो माना जासकता है कि किसी वस्तु को पहिले हम ने दूर से देखा, उस का स्वरूप भली-भांति न दीखने से उस का नाम न जान सके। परन्तु जब हम ध्यान में फूल को देख रहे हैं, फूल के स्वरूप को देख रहे हैं, उस का नाम ले रहे हैं; और फिर देखते देखते ही फूल का स्वरूप भूल गया, फूल का नाम भूल गया, और शेष रह गया तो यह रह गया कि यह कुछ है। यह कार्य कहने में जितना सरल है करने में उतना ही कठिन है। परन्तु योगी की सफलता का रहस्य इसी में छिपा है। यह एक वस्तु पर योगाङ्गों का अभ्यास है। एक स्थान पर इस अभ्यास के परिपक्क होजाने पर योगी सब तत्वों को इसी

प्रकार एक क्षण में भुला सकेगा और कैवल्य के मार्ग में आगे बढ़ सकेगा।

ऊपर की कुछ पंक्तियों में योगिजन ज्ञान-इन्द्रियों का किस प्रकार प्रयोग करें यह बतलाया गया है। संक्षेप में उसी सारे विषय को इस प्रकार ध्यान में रख सकते हैं :—

१—योगी को प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का गम्भीर विवेचन कर उस से उपेक्षा करनी चाहिये।

२—उसे अपने बाह्य-इन्द्रियों को बाह्य-विषयों से हटा कर चित्तमें स्थिर करना चाहिये। इसीका नाम प्रत्याहार है।

३—अपने बाह्य-इन्द्रियों का निरोध उस के लिये इस लिये भी आवश्यक है कि उस का मन और उस की बुद्धि स्थिर हो सकें।

४—चित्त के निरोध के बिना उस का योग सिद्ध नहीं हो सकता। और वस्तुतः चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है और चित्त की वृत्तियों का निरोध ही चित्त का निरोध है।

५—उसे चित्त के निरोध के लिये धारणा, ध्यान, समाधि और अवधान की सहायता लेनी चाहिये।
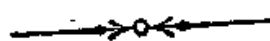
यक्ष-मन

मन का यह भाग कर्म-क्षेत्र का अधिकारी है। कर्म-इन्द्रियों के द्वारा होने वाले सब कार्य इसी के नियन्त्रण में होते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जितने देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया करता है उन यज्ञों में इस का यह मन ही यक्ष अर्थात् यजमान बना करता है। यद्यपि मन एक ही है, परन्तु अवस्था-भेद और कार्य-भेद से वह कई भागों में बंट जाता है। दैवमन में सत्व गुण प्रधान था और उस के सब इन्द्रिय भी सत्व गुण प्रधान भूतों से बने हैं, परन्तु यक्षमन में रजोगुण प्रधान है और इस के सब इन्द्रियों का निर्माण रजोगुण प्रधान भूतों से हुआ है। दैवमन सत्वगुण प्रधान होने से प्रकाश का केन्द्र था और यक्षमन रजोगुण प्रधान होने से गति का केन्द्र है।

इस दूसरे मन्त्र में मन के इसी कार्य-क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया गया है। मन्त्र पाठक पहिले भी पढ़ आये हैं, तथापि उन के सुभीते के लिये हम उसे यहां फिर उद्धृत किये देते हैं :—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

अपने मन पर अधिकार रखने वाले कर्मनिष्ठ विद्वान् लोग जिस के द्वारा अन्य यज्ञों और ज्ञान-यज्ञों में कर्म करते

हैं। और जो आत्मा की अन्दर की प्रजाओं में एक विचित्र यजमान है, वह मेरा यक्षमन शुभ सङ्कल्पों का आश्रय हो।

अब जब कि मन यजमान है तो उसे इस यज्ञ को रचाने के लिये ऋत्विक् चाहियें। और वे ऋत्विक् हैं कर्म-इन्द्रिय। ये इन्द्रिय भी संख्या में पांच हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।

इन इन्द्रियों के कार्य की प्रक्रिया इस प्रकार है। आत्मा ने दैवमन और ज्ञान-इन्द्रियों के प्रयोग से जब किसी विषय को जान लिया और उस विषय को प्राप्त करने की इच्छा की, तो वह अपने प्रयत्न से यक्षमन को उस विषय को प्राप्त करने की प्रेरणा करता है। आत्मा के उस प्रयत्न अथवा प्रेरणा के द्वारा यक्षमन में एक क्रिया-तरङ्ग उठती है, और वह प्राण-तन्तुओं में अपने प्रभाव से उसी प्रकार की तरङ्ग को जन्म देदेती है। प्राण-तन्तुओं पर से दौड़ती हुई वह ही क्रिया-तरङ्ग जाकर उसी इन्द्रिय में क्रिया उत्पन्न कर देती है जो इन्द्रिय उस विषय को प्राप्त करने में साधन है। कभी वह वाणी को आदेश कर देती है कि देवदत्त को कहो खेत से गन्नों का एक भार काट लावे। कभी वह पैर को कहती है कि आम के पास चलो और फिर हाथ से कहती है कि फल तोड़लो। और कभी पायु अथवा उपस्थ को अन्दर सञ्चित हुए मल को बाहर फेंकने की आज्ञा दे रही होती है। इस प्रकार यक्षमन प्राण-तन्तुओं के द्वारा कर्म-इन्द्रियों का सञ्चालन कर आत्मा का हित-साधन किया करता है। यक्षमन ही प्राण-तन्तुओं के द्वारा ज्ञान-इन्द्रियों के आधार-स्थानों से भी काम लिया करता है। वह जिह्वा से

बोलने, खाद्य-पदार्थों को अन्दर भेजने और दांतों में फंसे हुए तृण आदि को बाहर निकालने का काम लिया करता है। आंखों से शोक आदि के अवसर पर आंसू बहा कर अपने हृदय के उद्गार प्रकट किया करता है। त्वचा से रोम-कूपों से पसीने के द्वारा अन्दर के मल को निकालता हुआ स्वास्थ्य-लाभ के लिये यत्न किया करता है और भृकुटि तथा पलक आदि की विभिन्न प्रकार की गतियों से कई प्रकार के हाव-भाव प्रकट किया करता है। आंखों से आंसू निकलने में मन का क्षोभ और उस का प्राण-तन्तुओं पर प्रभाव कारण था। शरीर से पसीना निकलने में किसी शारीरिक या मानसिक श्रम की पीठ के पीछे होने वाली यक्षमन की प्रेरणा कारण थी। जिह्वा को बोलने और खाद्य को अन्दर भेजने की प्रेरणा भी यक्षमन ने की थी, परन्तु कान से दूषित मल को निकालने में उस का हाथ नहीं। क्योंकि उस की सब क्रियाएं आत्मा की आकांक्षा के ऊपर निर्भर हैं और आत्मा की आकांक्षा का हाथ यहां प्रकट-रूप में दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार नासिका के द्वारा श्वास के अन्दर जाने और बाहर आने में भी इस का हाथ नहीं कहा जासकता। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में भी यह क्रिया होती रहती है और वहां इस के लिये आत्मा की आकांक्षा मन को प्रेरणा करती हुई दिखाई नहीं देती, प्रत्युत वहां तो मन स्वयं भी प्रसुप्त अवस्था में हुआ करता है। इन दोनों क्रियाओं में आत्म-नियन्त्रण में काम करने वाला धृतिमन कारण है। धृतिमन के द्वारा यह कार्य और इसी प्रकार की अन्य बहुत सी क्रियाएं अव्यक्त-रूप से हुआ करती हैं, इसी लिये हम इसे

गूढ़ व्यापृत मन कहते हैं। यद्यपि धृतिमन का सब कार्य आत्मा के नियन्त्रण में हुआ करता है परन्तु आत्मा को स्वयं भी इस का पता नहीं होता कि यह कार्य किस प्रकार हो रहा है, और कि इसे मैं कर रहा हूं। "यह कार्य मैं कर रहा हूं" इस विषय का ज्ञान उसे तब होगा जब वह अपने स्वरूप को पहिचान जावेगा। अभी तो वह अपने स्वरूप को भी नहीं जानता कि "मैं क्या हूं"। इस विषय पर हम प्रत्यग्भान का व्याख्यान करते समय प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। ये क्रियाएं उस से चिर-काल के अभ्यास के कारण स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। जैसे कि किसी मनुष्य को हाथ या पैर हिलाते रहने का अथवा तिनके तोड़ते रहने का अभ्यास पड़ जाता है, तो उसे पता भी नहीं हुआ करता कि मैं यह क्रिया कर रहा हूं और वह क्रिया होती रहा करती है। कभी कभी तो दूसरे मनुष्य उसे टोक दिया करते हैं कि तुम तिनके क्यों तोड़ रहे हो? उन की उस टोक को सुन कर वह आश्चर्य-चकित रह जाया करता है, और तब उसे पता लगा करता है कि मैं तिनके तोड़ रहा था। ठीक इसी प्रकार आत्मा धृतिमन से जितने काम ले रहा है वे हो तो उसी के नियन्त्रण में रहे हैं परन्तु उसे यह पता नहीं कि ये क्रियाएं मैं करा रहा हूं। इन क्रियाओं का आत्मा को अत्यन्त अभ्यास है, और इस में भी कारण है। इस कारण का विवेचन हम धृतिमन के प्रकरण में ही चल कर करेंगे। यहां तो हम केवल इतना बतला देना चाहते हैं कि यक्षमन का कार्य-क्षेत्र वहीं तक है जहां आत्मा की आकांक्षा और प्रेरणा प्रकट रूप में झलक रही हों। जिस स्थान में जाकर

ये अव्यक्त-रूप धारण कर गई हों वह क्षेत्र धृतिमन का समझना चाहिये।

यहां तक हम ने यक्षमन के सहायक कर्म-इन्द्रियों के कार्य-क्रम की प्रक्रिया का सामान्य रूप से निर्देश किया है। अब हम विशेष रूप से प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य-क्रम पर दृष्टि-पात करने की चेष्टा करेंगे।

वाक्

हम बोलने का काम जिह्वा से लिया करते हैं। इस लिये यद्यपि इसे ही वाक् का नाम देना चाहिये था, परन्तु भाषण का कार्य अकेली जिह्वा से नहीं होता। किसी अक्षर के उच्चारण करते समय अन्दर से आने वाले वायु का भी होना आवश्यक है। जिह्वा का यहां केवल इतना ही काम है कि मन जिस वर्ण का उच्चारण करने के लिये वायु को बाहर भेज रहा है उस वर्ण के स्थान से अपने सहयोग-द्वारा उस का संयोग करादे। उदाहरण के लिये यदि मन की प्रेरणा "च" वर्ण के उच्चारण करने की है तो जिह्वा तालु-स्थान से संयुक्त होकर अन्दर से आने वाले वायु को उस स्थान से स्पर्श करा देगी, जिस से कि "च" वर्ण प्रकाश में आजावेगा। वर्ण की उत्पत्ति का यह क्रम अन्यत्र भी शास्त्र-कारों ने लिखा है उन का श्लोक है :—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कामाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

आत्मा बुद्धि से किसी अर्थ का निश्चय कर उसे कहने की इच्छा से मन को प्रेरणा करता है, मन शरीर की अग्नि

पर प्रभाव डालता है, अग्नि वायु को बाहर भेजता है और वायु भिन्न स्थानों पर जाकर वर्णों को उत्पन्न करता है।

इस प्रक्रिया के आधार पर हम वायु को भी वाक्-इन्द्रिय कह सकते थे। परन्तु जब हम और भी गम्भीर-दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं तो अग्नि से प्रेरित किये हुए वायु को कण्ठ के यन्त्र में आते ही ध्वनि के रूप में बदला हुआ पाते हैं। और वह ध्वनि अकार की ध्वनि होती है। और फिर यह ध्वनि ही आगे चल कर जिह्वा की सहायता से विभिन्न स्थानों से संयुक्त हो कर विभिन्न वर्णों का रूप धारण करती है।

अब वाक्-इन्द्रिय का स्वरूप जानने के लिये हमें यह जानने की आवश्यकता हुई कि उस प्रथम ध्वनि को, जो कि वर्णों का मूल है, किस ने उत्पन्न किया। उस साधन का अन्वेषण करने पर हम कण्ठ-यन्त्र और जिह्वा के मूल-भाग को उस स्थान पर उपस्थित पाते हैं। वह ध्वनि यद्यपि कण्ठ से प्रकट हुई थी, परन्तु उसे अकार का रूप जिह्वा के मूल-भाग ने ही दिया है। अतः जो जिह्वा आदि अन्त तक वर्णों की उत्पत्ति में निमित्त है, उसे और कण्ठ को वाक्-इन्द्रिय कहना चाहिये। परन्तु जिस प्रकार जिह्वा, रसना-इन्द्रिय नहीं प्रत्युत रसना-इन्द्रिय के रहने का स्थान है, इसी प्रकार कण्ठ और जिह्वा भी वाक्-इन्द्रिय नहीं प्रत्युत वाक्-इन्द्रिय के रहने के स्थान हैं। वाक्-इन्द्रिय आकाश के गुण शब्द को उत्पन्न करता है अतः इस की उत्पत्ति आकाश के रजोगुण प्रधान भाग से मानी गई है। इस के रहने का स्थान जिह्वा और कण्ठ हैं।

पाणि

पाणि नाम हाथों का है। दोनों हाथों को मिला कर एक ही इन्द्रिय माना गया है। क्योंकि इन दोनों का कार्य एक ही जैसा है। हाथों से हम किसी चीज़ को उठाने, धक्का देने, घुमाने और फैंकने का काम लिया करते हैं। और ये ही सब कार्य वायु के हैं। इस लिये 'पाणि' इन्द्रिय की उत्पत्ति वायु के रजोगुण-प्रधान भाग से मानी गई है। हमारे हाथ इस इन्द्रिय के निवास-स्थान हैं। वस्तुतः "पाणि" इन्द्रिय वायु से बना हुआ एक सूक्ष्म तत्व है जो कि हाथों में रहता हुआ हाथों से काम लिया करता है। यही कारण है कि जब हम चलते हुए वायु की सहायता लिया करते हैं, हाथों को हिलाते हुए उन को ही वायु में तैरने का साधन बनाया करते हैं। जल में तैरते हुए भी हम हाथों के वायवीय भाग से जल को पीछे धक्का देने का काम लिया करते हैं। यद्यपि वायु से ही उत्पन्न हुआ प्राण सारे शरीर में काम कर रहा है, परन्तु हाथों में काम करने वाले उसी के रजोगुण-प्रधान एक भाग को "पाणि" इन्द्रिय कहते हैं।

पाद

पाद नाम पैरों का है, दोनों पैरों को मिला कर "पाद" एक ही इन्द्रिय माना गया है। क्योंकि इन दोनों का कार्य समान ही है। "पाद" इन्द्रिय की उत्पत्ति तेज के रजोगुण प्रधान भाग से मानी गई है। जहां आर्ष-ग्रन्थों में हमारे शरीर में, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्; इन सात लोकों की कल्पना की गई है वहां "तपः" लोक का

नाम पैरों को दिया गया है। सन्ध्या में मार्जन-मन्त्रों में महर्षि दयानन्द ने भी "तपः पुनातु पादयोः" ही लिखा है। और तप गुण तेज का है अतः "पाद" इन्द्रिय की उत्पत्ति तेज से ही मानी गई है। देवता के हवि को उठा कर लेजाने वाले हव्य-वाहन अग्निदेव माने गये हैं, और उस की उत्पत्ति तेज से है। और हमारे शरीर में हवि का ही नहीं सब इन्द्रिय रूपी देवों का भी वाहन "पाद" इन्द्रिय ही है, अतः इस इन्द्रिय की उत्पत्ति तेज से मानी गई है।

और इन्द्रियों के ऐसे काम हैं जो एक स्थान पर रहते हुए हो सकते हैं, परन्तु "पाद" का काम ही चलने का है। और चलने से शरीर में गर्मी, विद्युत् अथवा तेज की तरङ्ग उत्पन्न होती है अतः इस इन्द्रिय की उत्पत्ति तेज से मानी गई है।

हमारे पैर इन्द्रिय नहीं, प्रत्युत ये पाद-इन्द्रिय के रहने के स्थान हैं, "पाद" इन्द्रिय रजोगुण प्रधान तेज से बना है और वह पैरों में रहता है। यों तो तेज हमारे उदर, नेत्र आदि शरीर के सब अङ्गों में ही काम कर रहा है। परन्तु पैरों में रह कर काम करने वाले रजोगुण-प्रधान तेज-भाग को पाद-इन्द्रिय कहते हैं।

पायु

जिस इन्द्रिय से हम मल का त्याग किया करते हैं इसे पायु कहते हैं। इस की उत्पत्ति रजोगुण-प्रधान जल के भाग से हुई है। यों तो इस की बनावट को देख कर ही इस के जलीय होने का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि यह

बनती हुई जल की भंवर का रूप धारण कर गया है। परन्तु इस के जलीय होने में और कारण भी हैं। हम इस इन्द्रिय से मल का विसर्जन किया करते हैं। और यदि इस का निर्माण पार्थिव-प्रधान-भाग से किया गया होता तो मल के साथ सटे रह जाने से अन्दर की शुद्धि कभी हो ही न सका करती। इस इन्द्रिय के बाहर का जो भाग पार्थिव-प्रधान उपादान से बना है उस से मल लगा रह जाता है और उसे हमें पानी से धोना पड़ा करता है। परन्तु अन्दर का जो भाग वास्तविक इन्द्रिय है और जल-तत्व-प्रधान-उपादान से बना है उस से न मल लगा रहता है और न उस के धोने की आवश्यकता हुआ करती है। अतः इस इन्द्रिय की रचना जल से मानी गई है।

हमारा मल के विसर्जन करने का स्थान भी पायु-इन्द्रिय का निवास-स्थान है। इस के अवयवों में रहता हुआ "पायु" इन्द्रिय काम करता है।

उपस्थ

हम जिस इन्द्रिय से मूत्र का त्याग किया करते हैं उसे—"उपस्थ" इन्द्रिय कहते हैं। इस की उत्पत्ति रजोगुण-प्रधान पार्थिव-भाग से हुई है। यह इन्द्रिय जनन-इन्द्रिय है। और यह ऐसे शरीरों की उत्पत्ति में साधन है जो पार्थिव-प्रधान-भाग से बने हैं। अतः इस इन्द्रिय के पार्थिव होने में किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं होसकता। हमारे मूत्र-त्याग का स्थान उस इन्द्रिय का निवास-स्थान है जिसे "उपस्थ" कहते हैं। "उपस्थ" इन्द्रिय इसी स्थान में रह कर कार्य किया करता है। और रजोगुण-प्रधान पार्थिव-भाग से बना है।

इन्द्रिय-निग्रह

पाठकों को यह समझ रखना चाहिये कि हम अभी सत्व-गुण के क्षेत्र से आये हैं और रजोगुण के क्षेत्र में घूम रहे हैं। हमारा दैवमन और उस के सहकारी ज्ञान-इन्द्रिय सत्वगुण-प्रधान तत्वों से बने हैं। परन्तु हमारे यक्षमन और उस के साथी कर्म-इन्द्रियों की रचना रजोगुण-प्रधान तत्वों से हुई है। रजोगुण प्रवृत्ति-शील है—चञ्चल है, और हम उसी से बनी हुई इन्द्रियों का निग्रह करने चले हैं। इस सारी परिस्थिति को ध्यान में रख कर अब हमारे विद्यार्थियों और योगिजनों को समझ लेना चाहिये कि हमें कितने सावधान होने की आवश्यकता है। और हमें सावधान करने के लिये ही भगवान् ने हमारे प्रस्तुत मन को यजमान और हमारे जीवन के कर्म-क्षेत्र को यज्ञ कहा है। और हमें कहा है, उस कर्म-क्षेत्र का "कर्म-निष्ठ मनीषी"। कर्म-निष्ठ पद का अधिकारी वह है जो किसी फल के प्रलोभन में न आकर अपने कर्तव्य-कर्म में सदा तत्पर रहे। और मनीषी पद उन महायोगिजनों के लिये आता है जिन्हों ने अपने मन पर अधिकार कर लिया हो। विद्यार्थी के लिये इन दो विशेषणों का आना यहां आवश्यक भी था। क्योंकि वह रजोगुण के क्षेत्र में खड़ा है, अतएव इस क्षेत्र में कर्म को त्याग कर कभी भी सफल नहीं होसकता—उसे अवश्य ही कर्म करने चाहियें। परन्तु कर्म के घोड़े की बाग को ढीली छोड़ देने पर भी न जाने कर्म उसे कहां जा पटकेगा। अतः मनीषी होना उस के लिये और भी आवश्यक है। उसे अपने मन को यजमान बना कर कर्म के यज्ञ में दीक्षित तो कर देना चाहिये, परन्तु

उस यज्ञ में ब्रह्मा बन कर नियन्त्रण उसे अपने ही हाथ में रखना चाहिये। तब ही तो वह अपने इन्द्रिय-रूपी ऋत्विजों को सुमार्ग पर चला कर अपने इस जीवन-यज्ञ को सफल कर सकेगा। फलतः अब विद्यार्थी-ब्रह्मा के सामने दो कार्य उपस्थित हो जाते हैं। एक तो जीवन के कर्म-यज्ञ का रचाना और दूसरा मन यजमान और इन्द्रिय ऋत्विजों की बागडोर का संभालना, अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह के लिये सन्नद्ध होना। वेद में अन्यत्र भी यह भाव प्रकट किया गया है :—

देवस्य सवितुः सवे युक्तेन मनसा वयम्, सुवर्गेयाय शक्त्या।

हम लोग सब संसार के रचयिता सविता भगवान् की यज्ञ-भूमि पर खड़े हुए हैं। हम स्वर्ग को प्राप्त करेंगे, मनोयोग से प्राप्त करेंगे और शक्ति से प्राप्त करेंगे।

कर्म-शील विद्यार्थी और योगी की मानसिक धारणा इतनी ही प्रबल होनी चाहिये। उसे अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास हो, और उस का अपने मन पर पूरा अधिकार हो। उस का मन जहां वह चाहता है वहां लगे—अपनी इच्छा से इतस्ततः दौड़ता हुआ न फिरे। उस के नियन्त्रण में रखने का उपाय हमें वेद ने बतला ही दिया है कि उसे यजमान बना कर जीवन के कर्म-यज्ञ का अनुष्ठान करना आरम्भ कर दो। उस से कह दो, तुम रजोगुणी हो! दौड़ने वाले हो! अच्छी बात है, दौड़ो। हम तुम्हें तुम्हारे अनुकूल ही एक विशाल क्षेत्र देंगे, यज्ञ का मनोहर कार्य-क्रम देंगे और उस कार्य-क्रम को सुचारु रूप से चलाने के लिये सुशिक्षित सहायक ऋत्विज् देंगे।

परन्तु स्मरण रहे मन को यह आदेश देने के बाद आप का उत्तर-दायित्व बढ़ गया है। आपने अपने ऊपर एक कार्य-भार लेलिया है। क्योंकि आपने उसे कहा है कि हम तुम्हें सुशिक्षित ऋत्विज् देंगे। तब क्या आपने अपने इन्द्रिय-ऋत्विजों को, सुशिक्षित बना लिया है। और यदि नहीं तो क्या अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आप यह कार्य आरम्भ करना चाहते हैं? और यदि हां, तो आइये, इस के लिये हमारे साथ मिल कर योजना बना लीजिये। पहिले आप परिस्थिति का स्वाध्याय कीजिये और देखिये कि आप का वाक्-इन्द्रिय आप की आज्ञा का पालन करता है या नहीं। आप एक दिन-चर्या की कापी बना लीजिये और उस में लिखना आरम्भ कीजिये कि आज आपने प्रातःकाल चार बजे उठते ही जो प्रतिज्ञा की थी "कि अब से लेकर रात्रि के दश बजे तक सत्य ही बोलूंगा, ऐसे शब्द मेरी वाणी से न निकलेंगे जो किसी निर्दोष भद्र पुरुष के लिये हानिकर अथवा उस के चित्त को ठेस पहुंचाने वाले हों। मेरी वाणी मीठी और सरस होगी, वह परिमित और आवश्यक अर्थ को प्रकट करने वाली होगी। मेरी भाषा सुरम्य और आकर्षक होगी, यह भगवद्गुण-कीर्तन का राग अलापती हुई उसी में लीन हो कर मुझे भी अपना आपा भुला देने के लिये विवश कर देगी"। उस के पूर्ण करने में आप कितने सफल हुए हैं।

अब आप भूलिये नहीं कि आप ने अपने वाक्-इन्द्रिय से अपने किन किन मनोरथों को सफल बनाने की आशाएं बांधी हैं। ये आशाएं आप आशा के प्रकट करने मात्र से पूरी न कर सकेंगे। आप को सजग होना होगा। अपनी

वाणी के एक एक अक्षर का निरीक्षण करने के लिये आप को अपनी इच्छा-शक्ति और अवधान के सारे बल का प्रयोग करना होगा। आप अपने आप को साधारण प्राणी न समझें। आप एक उन्नतिशील शरीर-रूपी साम्राज्य के राजा हैं और इस राज्य-तन्त्र में कार्य करने वाले सारे अधिकारी-वर्ग के सञ्चालक हैं। यदि आप के मन्त्री मन का इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं और आप का वाक्-इन्द्रिय पद पद पर ठोकरें खाता है तो क्या इस का यह अर्थ नहीं कि आप ने शासन की बागडोर ढीली छोड़दी है? आप की इसी भूल से मन को सावधान न रहने अत एव वाणी को आप की इच्छा के विपरीत चलने का अभ्यास होगया है। आप को अपनी इस भूल का सुधार करना होगा और इस के लिये अपनी वर्तमान अवस्था पर दृष्टि-पात करना होगा। आप अब उस अवस्था में हैं जैसी कि पालतू बनाने के लिये जङ्गल से किसी जन्तु को पकड़ कर लाने वाले मनुष्य की होती है। उसे भय रहता है कि मेरी थोड़ी सी भी पलक की झपक से यह जन्तु मेरी उंगली काट लेगा या हाथ चबा लेगा। अतः वह एक एक पल के लिये सावधान है। ठीक इसी प्रकार आप की वाणी भी आपके उस जङ्गली जन्तु के समान है—अशिक्षित है। इसे शिक्षित बनाने के लिये—कर्म-यज्ञ का अच्छा ऋत्विज् बनाने के लिये—आप ने व्रत लिया है। इसे पूरा निभाइये और सच्चे ब्रह्मा बनिये।

यदि अपराध मन और वाणी का ही होता तो हम आप को बार बार सम्बोधन करने की चेष्टा न करते। परन्तु खेद यह है कि जानते हुए या अनजाने आप भी तो इन का साथ

दे रहे हैं। धन, भूमि, भवन आदि का किसी प्रकार का भी प्रलोभन सामने आते ही न्यायालय में और अन्यत्र भी आप की वाणी झूठ की बौछार आरम्भ कर देती है। मन उस झूठ को पुष्ट करने का उपाय सोचने लगता है। बुद्धि भी तर्क द्वारा मन के अभीष्ट विषय का निर्णय कर अपनी पुष्टि की मुहर उस पर लगा देती है। पहिले तो कभी कभी आप सोचा करते हैं कि यह ठीक नहीं हो रहा, परन्तु फिर अन्त में आप भी अपने आप को दबा कर मूक भाषा में उस का अनुमोदन कर ही दिया करते हैं। हमें यहां पर आप का यह अनुमोदन खटकता है। आप आत्मा हैं; इस कर्म-यज्ञ के ब्रह्मा हैं, इस शरीर-साम्राज्य के राजा हैं और अत एव न्यायालय के न्यायाधीश हैं। आप को यह अनुमोदन शोभा नहीं देता। आप इस का विरोध कीजिये, छाती तान कर खड़े हो जाइये, अपनी इच्छा-शक्ति का अंकुश हाथ में लीजिये, और फिर आप देखेंगे कि आप के एक ही प्रहार से कांपता हुआ मन का हाथी, वाक्-हथिनी को कान से पकड़ कर सरल सत्य-मार्ग पर चलने के लिये विवश कर रहा होगा। जिन प्रलोभनों में फंस कर आप ने मौन धारण किया है, हमारे प्रलोभनों के सामने इन की सत्ता ही क्या है। चोरों के हाथ में, घाटे में अथवा विषय-लालसा के पेट में, इस धन को जाते कुछ भी देर नहीं लगगी। इन्हीं कारणों से भूमि कुछ काल में किसी और के हाथ में होगी। झञ्झा-वात के एक ही झोंके से भवन, भूमि-माता की गोद में सो जायेंगे अथवा किसी और की सम्पत्ति गिने जायेंगे। और आप अपने शिर पर अपयश और अधर्म की गठड़ी बांध कर

नमस्ते कर, विवश लड़खड़ाती हुई टांगों से किसी दूसरे लोक की राह ले रहे होंगे। परन्तु हमारा वीर कर्म-निष्ठ ब्रह्मा, प्राणिमात्र की कल्याण-भावना से कर्म-यज्ञ में जुटा हुआ है। मन यजमान और वाक् ऋत्विज् हाथ जोड़े उस के सामने खड़े हैं। उस के भय से न उस का मन कभी असत्य के पथ पर कुछ सोचता है और न उस की वाणी इस मार्ग पर चल कर दूसरे का धन हरण करती हुई उस के चित्त को पीड़ित कर स्तेय और हिंसा से अपने आप को कलङ्कित करती है। अत एव अब उसे अपने चारों ओर के वायु-मण्डल में अपने यश के गान सुनाई दे रहे हैं। उस ने परलोक में अपने लिये इस लोक से सुन्दर भवन बना लिये हैं और कई गुणा सम्पत्ति का संग्रह कर लिया है। और यदि वाणी के अधिकार को और भी आगे बढ़ा कर उसे भगवद्गुण-गान की रसिक बना दिया तो परमानन्द का परमधाम–ब्रह्मलोक उस का अपना लोक बन गया। अब तो वह मित्रों से हाथ मिलाता हुआ आज्ञा मिलने से प्रथम ही प्रसन्नवदन होकर अपने उस लोक को प्रस्थान करने के लिये उतावला हो रहा है। अब आप हमारे बतलाये और अपने चुने हुए प्रलोभन पर ध्यान दीजिये, हमें पूरी आशा है कि विचार करने पर आप इस मार्ग पर चलने का तत्काल उपक्रम करने में कुछ भी विलम्ब न करेंगे।

पाणि

हमारे इस कर्म-यज्ञ के दूसरे ऋत्विक् "पाणि-इन्द्रिय" हैं। पाणि हाथों को कहते हैं। हमारे मन यजमान के इस

यज्ञ-कर्म में सब से बड़े सहायक हाथ ही हैं। वाणी से निश्चय कर लेने के बाद इस यज्ञ में आहुति डालने के लिये हाथों को ही आगे बढ़ने का अधिकार मिला हुआ है। शक्ति प्राप्त हो जाने पर हमारे ये हाथ क्या क्या किया करते हैं, यह जानने के लिये इन के इतिहास को पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हृदय कांप उठता है। अशक्त मनुष्य की सम्पत्ति छीनते हुए, उसे मृत्यु के कराल गाल में भेजते हुए और अन्त में उस के इतिहास को भी संसार से मिटाते हुए ये कुछ भी देर नहीं लगाया करते। जब तक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था, जिसे कि आज कल सभ्यता कहा जाता है, उस समय के राजनैतिक क्षेत्र में नहीं धर्म-क्षेत्र में भी इस्लाम और ईसाइयत के नेताओं के हाथों घटी हुई घटनाएं इतिहास के विद्यार्थियों के सामने हैं। और वर्तमान बढ़ी चढ़ी कही जाने वाली सभ्यता के कर्ण-धार लोगों के हाथों आज संसार में जो कुछ हो रहा है उसे बतलाने की "हाथ कङ्गन को आरसी क्या" के अनुसार कोई आवश्यकता ही नहीं।

हम यहां अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् योगी रामचारक महोदय की अपने हाथों लिखी हुई अमेरिकन सभ्य लोगों के हाथों घटी हुई एक घटना को उद्धृत कर आगे चलेंगे। "अमेरिका के आदिम निवासियों का मांस जब टुकड़े टुकड़े कर के काटा जाता था, तब वे उस पीड़ा को अपने मृत्यु के गीत में भुलवा देते थे और गुलाम लोग अपने ऊपर के अत्याचारों पर क्रोध के आवेश में आकर चाबुक की मार को

सहन कर लेते थे"। (योगी रामचारक की लिखी "मैण्टल डिवलपमैण्ट" के ठाकुर प्रसिद्ध नारायण सिंह द्वारा लिखे गये हिन्दी अनुवाद की द्वितीयावृत्ति पृष्ठ १३५)।

अस्तु हम प्रसङ्ग से आये हुए इस विषय के अधिक विस्तार में न जाकर विद्यार्थियों और योगिजनों को सन्देश देना चाहते हैं कि वेद "पाणि" इन्द्रिय की इस मार्ग की ओर एक पग रखने की भी क्रिया के सर्वथा विरुद्ध है। जैसा कि हम पहिले लिख आये हैं, वह तो मन को एक सुयोग्य यजमान और पाणि को सच्चा ऋत्विक् बनाना चाहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक सभ्यता के पुजारी विद्यार्थी के हाथ कहीं तो सड़क पर पड़े हुए अनाथ दीन दुखिया मनुष्य के घावों पर पट्टी बांध रहे हैं, कहीं अकाल से पीड़ित भूखे प्राणियों को भोजन बांट रहे हैं, कहीं प्रबल से सताए हुए निहत्थे निर्बल के शिर पर अपनी तलवार की छाया कर उस की ढाल बने हुए हैं, कहीं जल-धारा के प्रबल वेग में बहते हुए और डूबते हुए मनुष्य को अपने ऊपर आने वाले सङ्कट की कुछ भी चिन्ता न कर हाथ पकड़ कर बाहर निकाल रहे हैं, कहीं प्रचण्ड अग्नि-काण्ड की आग में झुलसते हुए बालक को उस अवस्था में जब कि उस के माता पिता भी भय से दूर खड़े कांप और रो रहे हैं, अग्नि की दहकती हुई लपटों में कूद बाहर निकाल रहे हैं और दूसरे की सम्पत्ति और भूमि को अपने अधिकार में करना तो दूर की बात अपने पसीने से कमाये हुए धन का भी वह भाग, जो कि परिग्रह के नाम से कहा जा सकता था, अधिकारियों में बांट रहे हैं। उन से कभी हिंसा हो सकेगी

अथवा पर-सम्पत्ति का हरण हो सकेगा यह बात तो सूर्य के सामने अन्धेरा आने के समान है। उन के ऋत्विक् होते हुए असन्तोष असुर का भी उन के यजमान मन तक पहुंचना शेर के मुख में हाथ डालना है। क्यों न हो यज्ञ के ऋत्विक् जो ठहरे। हे विद्यार्थियो और योगिजनो! विलम्ब न करो कर्म-यज्ञ रचाओ, ब्रह्मा बन जाओ, अपने मन को यजमान और अपने हाथों को सच्चे ऋत्विक् बनादो और कहो वैदिक धर्म तेरी सदा जय हो, सङ्कट दूर हों और संसार में शान्ति की पवित्र गङ्गा बहे।

पाद्

पाद् पैरों को कहते हैं। यह इन्द्रिय हमारे सारे शरीर समाज का आधार-स्तम्भ है। इसे शास्त्रकारों ने तपोलोक कहा है। शरीर के अन्य सब लोक इसी के आधार पर ठहरे हुए हैं। योग के आठ अङ्गों में से एक अङ्ग आसन भी है। इस अङ्ग की सिद्धि विद्यार्थी और योगाभ्यासी दोनों ही के लिये आवश्यक है, जो कि पाद इन्द्रिय के निरोध पर ही निर्भर है। एक आसन पर थोड़ी देर बैठते ही पैर दुखने लग जाते हैं और कितना ही निषेध करने पर भी वे आसन छोड़ बैठते हैं। ऐसे अवसर पर इस इन्द्रिय का निरोध आवश्यक है। पर बल-पूर्वक पैरों को पकड़ कर उसी स्थान पर फिर ठहरा देने का नाम निरोध नहीं है। ऐसा करने पर पैर फिर दुखते रहेंगे और मन में क्षोभ बना रहेगा। इस निरोध के महर्षि पतञ्जलि ने तीन उपाय बतलाये हैं। उन में से एक है :—

स्थिरसुखमासनम् । यो० २।४६

आसन वह ही ठीक है जिस पर देर तक सुख से बैठा जासके। ऐसी अवस्था में पैरों में स्वयं ही बहुत देर तक क्षोभ न होगा और वे एक स्थान पर ठहर सकेंगे। दूसरे दो उपाय उन्होंने बतलाये हैं :–

प्रयत्न-शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । यो० २।४७

प्रयत्न को ढीला करना और आकाश या भगवान् में चित्त का लय करना।

इन में से पहिला साधन सरल है और दूसरा कठिन। प्रयत्न को ढीला करने का तात्पर्य यह है कि पैर से लेकर शिर तक की नाड़ियों के जितने तनाव हैं उन सब को ढीला छोड़ दो और जिस आसन पर चाहो सीधे बैठ जाओ। तनाव को ढीला करने की क्रिया शारीरिक भी है और मानसिक भी। शारीरिक क्रिया से शरीर के अन्दर-बाहर के सब अङ्गों को ढीला छोड़ना पड़ता है और मानसिक क्रिया यह है कि मन में यह तरङ्ग पैदा करो कि मेरी नसों के सब तनाव ढीले होगये हैं। जहां कुछ खिंचाव प्रतीत हो उस ओर इस मानसिक तरङ्ग को बहा दो। फिर आप देखोगे कि इस का कुछ प्रभाव होरहा है। इस का यह प्रभाव होगा कि पहिले तनी हुई नसों का एक दूसरी पर जो दबाव पड़ता था, वह असह्य होता था और अब ऐसा न होगा। परन्तु यह बात नहीं कि अब पैरों में पीड़ा होगी ही नहीं। हां इतना अवश्य होगा कि वह जितनी शीघ्र पहिले आरम्भ होजाया करती थी इतनी शीघ्र अब न होगी। अब आप

को उस पीड़ा को कुछ देर सहन करने का अभ्यास करना होगा। और यह मात्रा शनैः शनैः बढ़ानी होगी। इस अभ्यास के बाद आप देखेंगे कि वह पीड़ा, जितनी देर का अभ्यास आप ने बढ़ा लिया है उस के बाद आरम्भ हुआ करेगी पहिले नहीं। आप इस अभ्यास को बढ़ाते बढ़ाते वहां तक लेजायंगे जब कि पैर सोने लग जावें। आप ने देखा होगा कि जब आप बहुत देर तक किसी स्थान पर बैठे रहते हैं और पैर के किसी भाग पर किसी वस्तु का दबाव पड़ा रहता है तो पैर सोजाया करता है। दबाव के कारण वहां का प्राण ऊपर चला जाया करता है और रक्त की गति बन्द होजाया करती है। उस समय आप पैर में कोई चीज़ चुभाएं तो भी पता नहीं लगा करता। ठीक ऐसी ही अवस्था जब मेखला के नीचे के सारे भाग में प्रतीत होने लगेगी तो आसन सिद्ध होजावेगा। परन्तु इस अवस्था का आना तब तक सरल नहीं है जब तक मन में विक्षेप विद्य-मान है। इसी लिये महर्षि ने मन को स्थिर करने की भावना से इस दूसरे साधन का उल्लेख किया है। अनन्त नाम आकाश का भी है परन्तु भूताकाश का नहीं। आकाश दो प्रकार के हैं, भूताकाश और शून्याकाश। भूताकाश अनन्त नहीं है क्योंकि उस की शब्द तन्मात्रा से उत्पत्ति होती है और उसी में उस का लय होजाता है। परन्तु शून्य आकाश जिसे कि अवकाश, खाली स्थान अथवा शून्य कहते हैं, अनन्त है। और चित्त के उस में लय करने का विधान इसी लिये किया गया है कि वह वृत्तियों के व्यापार से शून्य होजावे। यह कार्य कठिन है और अभ्यासी का पर्याप्त समय लेगा।

इस अभ्यास के करने का प्रकार यह है कि मन में जो विचार आते जावें उन सब को भुलाने की चेष्टा करता चले अर्थात् उन्हें शून्य-महासागर में डुबोता जावे। विचारों का तांता बंधा रहेगा और आलस्य छोड़ कर अभ्यासी को भी अपने काम में लगा रहना पड़ेगा। हार उस की होगी जो थक जावेगा। परन्तु श्रद्धा से लगा हुआ विद्यार्थी अथवा अभ्यासी कभी हार नहीं सकता। उस की अवश्य विजय होगी।

मन को ईश्वर में लीन करने का कार्य इस भूमिका के अभ्यासी के लियें कठिन है। भगवान् का स्वरूप ज्योति अथवा प्रकाश है। और जब तक प्रकाश प्रकट न हो उस में मन का लय किस प्रकार करेगा। यह प्रकाश उस की धारणा करने से भी प्रकट न होगा और ऐसा करने की अभ्यासी को चेष्टा भी न करनी चाहिये। क्योंकि असम्भव फल के लिये आरम्भ करने से प्रयत्न निष्फल होगा और उस का दिल टूट जावेगा। यह प्रकाश बहुत देर बाद की भूमिका में प्रकट होगा और उस से बहुत काल पहिले आसन सिद्ध होचुका होगा। हां अनन्त प्रभु के नाम के जप में मन को लीन किया जासकता है और यह कार्य इस अवस्था में सम्भव है।

इस जप का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये :—

ओम् के जप का निरन्तर तांता बांध दिया जावे। उस का तार बीच में टूटने न पावे और हमारे कान जप की उस निरन्तर ध्वनि को सावधान होकर सुनते चलें, बीच में से एक भी शब्द की ध्वनि उन की जानकारी से बाहर न रहे। मन भी सावधान होकर इस व्यापार का निरीक्षण

करता रहे कि वाणी ओम् का निरन्तर उच्चारण कर रही है और कान उस ध्वनि को निरन्तर सुन रहे हैं। यह ध्यान रहे कि इस अवसर में मन में और कोई विचार आते ही अवधान ढीला पड़ जावेगा और सब खेल बिगड़ जावेगा। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि ऐसे अवसर आवेंगे अवश्य, हमें बार बार मन का अवधान लगाकर उस जप को आरम्भ करना पड़ेगा। परिश्रम करते रहने पर इन विचारों का आना कम होता जावेगा। और ज्योंही आप मन को जप की ध्वनि में लीन करने में सफल होगये तभी आसन सिद्ध होजावेगा।

प्राणायाम विद्यार्थी और अभ्यासी दोनों को शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से उन्नत करने वाला योग का एक उत्तम अङ्ग है। आसन के सिद्ध होजाने पर यह अत्यन्त सरलता से सिद्ध होजाता है, ऐसा महर्षि पतञ्जलि ने उल्लेख किया है। और इस एक अङ्ग की ही नहीं, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन शेष चारों अङ्गों की भी (जिन का कि उल्लेख हम पहिले कर आये हैं) सिद्धि, इस के सिद्ध होजाने पर सुगम होजावेगी।

प्राणायाम के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी उसी विषय पर लिखे हुए और ग्रन्थ पढ़ें। यह विषय लम्बा है और यहां मन के सहकारि-वर्ग इन्द्रिय-गण के व्याख्यान के प्रसङ्ग में इस के व्याख्यान का प्रसङ्ग नहीं। इस के विषय में कुछ बातें हम पायु के प्रकरण में कहेंगे।

हम ने पाद-इन्द्रिय के व्याख्यान के आरम्भ में इस इन्द्रिय को मानव शरीर के तपोलोक का नाम दिया था

महर्षि पतञ्जलि ने इस इन्द्रिय आसन की सिद्धि का फल लिखा है :-

ततो द्वन्द्वानभिघातः । यो० २।४८

आसन के सिद्ध होजाने पर गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्व नहीं सताते । और यह कार्य तप का है । अतः इस प्रकार की क्षमता प्राप्त कराने वाला इन्द्रिय, निःसन्देह तपोलोक के नाम से पुकारा जासकता है ।

यह इन्द्रिय भी मन यजमान के कर्म-यज्ञ का एक ऋत्विक् है । परन्तु इस ऋत्विक् ने अपने ऋत्विक्-कर्म को जिस सुन्दरता से निभाया है ऐसा और इन्द्रिय ने कदाचित् ही निभाया होगा । यह इन्द्रिय अपने सब कार्यों का सम्पादन तो यथा समय करता ही रहता है, इस के साथ ही अपनी आसन-सिद्धि से मन के क्षोभ को दूर कर उस को यथार्थ अर्थों में यजमान बनाने के कार्य का सम्पादन भी इस ने बड़ी सुन्दरता से किया है ।

आसन को जहां तप माना गया है, प्राणायाम को परम तप कहा गया है । और तप से शरीर और इन्द्रिय का शौच अर्थात् शुद्धि होती है । इस के लिये महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है :—

कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । यो० २।४३

तप से अशुद्धि का नाश होकर शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है । इस प्रकार इस इन्द्रिय ने मन के साधन शरीर और अन्य इन्द्रियों को भी योग्य ऋत्विक् बना मन की और भी अधिक सहायता की है ।

हम प्रेरणा करेंगे कि विद्यार्थी और अभ्यासी सज्जन यथार्थ रूप में ब्रह्मा बनने के लिये अपने पाद-इन्द्रिय से उचित उपयोग लेना आरम्भ करदें।

पायु

मल-त्याग करने वाले इन्द्रिय को पायु-इन्द्रिय कहते हैं। हम पहिले लिख आये हैं कि विद्यार्थी और अभ्यासी की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति के लिये प्राणायाम एक आवश्यक योग का अङ्ग है। और इस अत्यन्त उपयोगी क्रिया की सिद्धि के लिये पायु-इन्द्रिय के निरोध का भी विशेष उपयोग है। भगवान् कृष्ण ने गीता में लिखा है :-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः ॥ गी० ४।२९

प्राणायाम में तत्पर अभ्यासी लोग, प्राण और अपान की गति को रोक कर, कोई प्राण में अपान की और कोई अपान में प्राण की आहुति डालते हैं।

प्राणमय कोष हमारे शरीर में फैला हुआ कार्य कर रहा है। कार्य के अनुसार महर्षियों ने उसे दश भागों में बांट दिया है। उन दशों भागों के नाम हैं, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इन में से नाभि से नीचे पैर तक के भाग में काम करने वाले प्राण को अपान कहते हैं, नाभि से लेकर हृदय से इस ओर के भाग में काम करने वाले प्राण को समान कहते हैं, हृदय से लेकर कण्ठ से इस ओर के भाग में काम करने वाले प्राण को प्राण कहते हैं, कण्ठ से लेकर शिर के

ऊपर के भाग तक कार्य करने वाले प्राण को उदान कहते हैं और सब शरीर में फैल कर काम करने वाले प्राण को व्यान कहते हैं।

उदान की एक शाखा का नाम नाग है, वह डकार के लाने का कार्य किया करता है। उदान की ही दूसरी शाखा का नाम कृकल है, वह छींक लाने का कार्य किया करता है। और उदान की ही तीसरी शाखा का नाम धनञ्जय है, यह चित्त में घूमता हुआ स्मरण में सहायक हुआ करता है।

व्यान की एक शाखा का नाम देवदत्त है, वह पलकों के फड़कने और नसों के सिकुड़ने-फैलने आदि का कार्य करता है। और व्यान की ही दूसरी शाखा का नाम कूर्म है, वह पलकों के फड़कने और रगों के सिकुड़ने-फैलने आदि का कार्य किया करता है।

यहां प्राण का निरोध कर उस की अपान में और अपान का निरोध कर उस की प्राण में आहुति डालने का विधान है। प्राणायाम के तीन भाग हैं, पूरक, कुम्भक और रेचक। जब हम नासिका के एक छिद्र से श्वास को फुप्फुसों में भरा करते हैं उस क्रिया को पूरक कहते हैं, जब श्वास को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ काल वहां रोक दिया करते हैं उसे कुम्भक कहते हैं और जब नासिका के दूसरे छिद्र से प्राण को शनैः शनैः बाहर निकाल दिया करते हैं इस क्रिया को रेचक कहते हैं। कुम्भक के समय प्राण फुप्फुसों में डट कर भरा हुआ होता है। प्राण-तन्तुओं और रक्त लेजाने वाली धमनियों के द्वारा शरीर के विभिन्न भागों में

फुप्फुसों से भी प्राण जाया करता है। और जब फुप्फुसों में प्राण का दबाव अधिक होने के कारण प्राण और भी अधिक मात्रा में धमनियों और प्राण-तन्तुओं के मार्ग से नीचे की ओर दौड़ता हुआ अपान से जा मिलता है, इसी को अपान में प्राण की आहुति कहते हैं।

इस कुम्भक के अतिरिक्त दूसरा बाह्य-कुम्भक बाह्य-प्राणायाम में किया जाता है। यहां अन्दर के सब श्वास को बाहर फेंक कर उसे बाहर ही रोक दिया जाता है। अब फुप्फुस प्राण से खाली होजाते हैं। उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये जहां शरीर के अन्य भागों का प्राण प्राण-तन्तुओं-द्वारा फुप्फुस की ओर दौड़ता है, नीचे के भाग का अपान भी प्राण-तन्तुओं-द्वारा ऊपर की ओर दौड़ कर प्राण से जा मिलता है इसे अपान की प्राण में आहुति कहते हैं। प्रायः जो अशुद्ध वायु पायु-इन्द्रिय के द्वारा बाहर फेंका जाता है इसे अपान कहा करते हैं, परन्तु यहां अपान से तात्पर्य उस वायु से नहीं है। यहां अपान उस प्राण का नाम है जिस के द्वारा नाभि से नीचे के सब भागों में रस-रक्त आदि खाद्य-सामग्री पहुंचाई जाती है।

बाह्य अथवा आभ्यन्तर कुम्भक के समय एक और क्रिया अभ्यासी लोग किया करते हैं। पेट को पीछे की ओर खींचा जाता है, इस क्रिया का नाम "उड्डियान-बन्ध" है। और पायु को ऊपर की ओर खींचा जाता है, इस क्रिया का नाम मूल-बन्ध है। मूल-बन्ध का लगाना ही पायु-इन्द्रिय का निग्रह कहना चाहिये। इस मूल-बन्ध की क्रिया से भी अपान की गति ऊपर को होजाती है। अपान की इस ऊर्ध्व-

गति से ही मूलाधार-चक्र जो कि पायु के ऊपर है खुल जाता है, कुण्डलिनी जग जाती है, सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और यह ही अभ्यासी को अभीष्ट है।

अब हमारे विद्यार्थी और योगाभ्यासी महोदय समझ गये होंगे कि आध्यात्मिक कर्म-क्षेत्र में उन्हें ऊंचा उठाने के लिये उन के यज्ञ के ऋत्विक् पायु का भी पर्याप्त हाथ है। परन्तु यह सब कुछ इसी के ऊपर निर्भर है कि वे इस मार्ग में चलने के लिये सुयोग्य ब्रह्मा बनें। फिर उन के यजमान मन का भी उन के साथ चलना अनिवार्य होजावेगा।

उपस्थ

मूत्र-त्याग करने वाले इन्द्रिय का नाम उपस्थ-इन्द्रिय है। हम इन्द्रियों के प्रकरण में यम और नियमों का प्रायः निर्देश कर आये हैं। जिन में से अहिंसा का वाक् और पाणि के प्रकरण में; सत्य का वाक् के प्रकरण में; अस्तेय, अपरिग्रह और सन्तोष का पाणि के प्रकरण में और तप तथा शौच का पाद के प्रकरण में उल्लेख किया गया है। यहां उपस्थ के प्रकरण में हम अपने विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का सन्देश देना चाहते हैं।

यद्यपि ब्रह्मचर्य का अर्थ विस्तृत है और यम नियम आदि जितने योग के अङ्गों का पहिले निर्देश किया गया है वे सब व्यवस्थाएं ब्रह्मचर्य के साथ सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु यहां हम केवल उपस्थ-इन्द्रिय के निग्रह-अर्थ में ही ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

उपस्थ इन्द्रिय अथवा किसी अन्य क्रिया द्वारा शरीर की प्रधान-शक्ति—वीर्य—को किसी प्रकार की भी हानि पहुं-

त्याने का नाम मैथुन है। इस का उल्लेख मनु भगवान् ने अपने नीचे के श्लोक में किया है :-

दर्शनं स्पर्शनं केलि स्मरणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेवच ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गंप्रयत्नाद्वर्जयेत्सुधीः ॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को सब के साथ ये व्यवहार, काम-वासना को जगाने वाले होने के कारण, न करने चाहियें। जैसे कि काम-वासना से किसी को देखना न चाहिये, छूना न चाहिये, किसी से क्रीड़ा न करनी चाहिये, किसी को याद न करना चाहिये, किसी से छिप कर बातें न करनी चाहियें, किसी के विषय में मन में विचार न करना चाहिये, मनन न करना चाहिये और सम्भोग न करना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्चारी और अभ्यासी के लिये मनु भगवान् ने इस आठ प्रकार के मैथुन का सर्वथा निषेध किया है।

ब्रह्मचारी का तो यह आश्रम है ही संग्रह करने का आश्रम। वह इस समय शरीर की, मन की, बुद्धि की और आत्मा की सब शक्तियों का संग्रह करने के लिये ही इस आश्रम में आया है, व्यय करने के लिये नहीं। यदि उसे इन में से किसी शक्ति के कुछ व्यय करने का अधिकार है, तो इन्हीं में से एक-दूसरी शक्ति की वृद्धि के लिये, संसार के और किसी कार्य के लिये नहीं। वह इस समय अपने जीवन-भवन की आधार-शिला रख रहा है, यदि यह निर्बल रही तो यह भवन समय से पहिले ही गिर जावेगा।

वह इस समय वंश-वृक्ष के बीज को बना रहा है, यदि वह कच्चा ही शरीर-वृक्ष की शाखा से तोड़ लिया गया तो उस में प्रथम तो वृक्ष को जन्म देने की शक्ति ही न होगी और यदि उग भी आया तो वह पेड़ पनप न सकेगा। वह नीरोग तथा शक्ति-शाली होकर, भविष्य में अन्यों का सहायक तथा सुखी जीवन व्यतीत करने की भावना से इस आश्रम में आया है। परन्तु यदि उस ने हड्डी, मांस, मस्तिष्क आदि शरीर की सब धातुओं को पुष्ट करने वाली प्रधान-शक्ति–वीर्य–को इसी आश्रम में क्षीण करना आरम्भ कर दिया; तो वह शरीर, मन और बुद्धि की भी सब शक्तियों को निर्बल कर: रोगी और दूसरों के ऊपर भार-रूप जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होजावेगा।

वह आत्मा का भोजन, परमपिता प्रभु की आत्म-प्रसादी-रूप आशीर्वाद लेने के लिये इस आश्रम में आया है, परन्तु संयमी ब्रह्मचारी पिता का प्रसाद, संयमी ब्रह्मचारी पुत्र ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि वह इन्द्रिय-दमन करता हुआ संयमी न रह सका तो विवश उसे अपने भाग–इस सम्पत्ति–से वञ्चित रहना पड़ेगा।

वह जनक, जननी और जन्म-भूमि का ऋण उतारने की शक्ति का संग्रह करने के लिये इस आश्रम में प्रविष्ट हुआ है, यदि उस ने यहां ही उस शक्ति का क्षय करना आरम्भ कर दिया तो उसे और भी ऋणी होकर इस संसार से जाना होगा।

अपने विद्यार्थियों के सामने हम ने बहुत ही संक्षेप में और बहुत ही थोड़े उन के मनोनीत उद्देश्यों का नाम लिया

है। वे इतने ही नहीं और भी अनेक कर्त्तव्य कार्यों की सूची अपने मन के कोष में संग्रह किये हुए होंगे। हम उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिये यह सब कुछ लिख रहे हैं, कि उन के पास, अपनी इस सङ्कल्प-लता को फूलने और फलने के योग्य बनाने के लिये जितनी शक्ति चाहिये, उस के संग्रह के लिये वे क्या कुछ कर रहे हैं।

हम ने पहिले उन्हें ऋषियों के शब्दों में कुछ करने का आदेश दिया है। और हम अब फिर कहना चाहते हैं कि इस कार्य की सिद्धि के लिये धर्म-ग्रन्थों और महापुरुषों की जीवनियों का स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान उन के प्रबल सहायक होंगे। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ अपने सब कर्मों को परम पिता प्रभु के अर्पण करना है। और यह निश्चय है कि जब वे कोई भेंट परम पिता के अर्पण करने जावेंगे, वह अत्यन्त उत्तम होगी। क्योंकि भेंट चढ़ाने वाला ग्रहण करने वाले की परिस्थिति का पहिले ही स्वाध्याय कर लिया करता है। इस प्रकार स्वाध्याय से उन को वह सामग्री मिलेगी जिस में आदर्श कर्मों का विशाल कोष संगृहीत होगा। और ईश्वर-प्रणिधान का लक्ष्य उन को सर्वोत्तम कर्म करने की ओर अग्रसर करेगा। अन्त में हम एक बार फिर विद्यार्थियों से यह कहना चाहते हैं कि अपने उपस्थ इन्द्रिय को उस के घोर संयम-द्वारा सच्चा ऋत्विक् बना आप यथार्थ ब्रह्मा पद के भागी बनिये और अपने यज्ञ को सच्चा यजमान बनाइये।

हम अभ्यासी सज्जनों से भी इस सम्बन्ध में ऐसी ही आशा रखते हैं। क्योंकि योग-मार्ग में दीक्षित होने के बाद ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन उन के लिये भी उतना ही आवश्यक

है जितना कि एक विद्यार्थी के लिये। हां जो सज्जन गृहस्थाश्रम में ही रह कर योग के कुछ अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहते हैं, वे केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ऋतुगामी होते हुए मनु भगवान् के आदेशानुसार आंशिक ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान कर सकते हैं।

मन

ऊपर कर्म-इन्द्रियों के निरोध के प्रसङ्ग में हम ने मन को उन का अधिष्ठाता कहा है। परन्तु इस प्रसङ्ग में हम मन को भी एक इन्द्रिय कह रहे हैं। जिस प्रकार अन्दर के सारे अनुभवों में देवमन को इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, ठीक इसी प्रकार अन्दर की सब क्रियाओं में यक्षमन को भी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वहां वह स्वयं विद्यमान है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति; प्राण-तन्तुओं के द्वारा कर्म-इन्द्रियों को प्रेरणाएं, ये सब क्रियाएं यक्षमन स्वयं ही किया करता है।

यहां यह प्रश्न होसकता है कि यक्षमन का निरोध किस प्रकार किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा वक्तव्य यह ही है कि इसे काम करने से रोकने की आवश्यकता नहीं। और यदि आप इसे रोकने की चेष्टा करेंगे भी तो सफल न हो सकेंगे। इस विषय में भगवान् कृष्ण की सम्मति स्पष्ट है :—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ गीता ३।५

कोई एक क्षण भी कभी भी कर्म किये बिना नहीं रह

सकता। जिन गुणों को मनुष्य ने अपना स्वभाव बना लिया है, वे उस से कर्म कराते ही रहते हैं।

यदि मनुष्य को कर्म करने से छुटकारा मिल सकता और वह शान्त होकर बैठ सकता तो अच्छी ही बात थी, परन्तु यह सम्भव नहीं। कारण यह है कि मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों से कर्म करता चला आरहा है, और अपने उस अभ्यास से उस ने अपने आत्मा में किसी स्वभाव को जन्म देदिया है, जिसे कि आदत कहा करते हैं। उस स्वभाव में कभी सत्वगुण, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण की प्रधानता रहा करती है। जिस समय जो गुण प्रधान हो उस समय उसी प्रकार के कर्म मनुष्य को करने पड़ा करते हैं। मनुष्य अपने क्षेत्र को बदल सकता है। वह इन में से किसी भी गुण की प्रधानता को हटा कर अपनी इच्छा के अनुसार किसी दूसरे को प्रधान बना सकता है। क्योंकि जो गुण इस समय प्रधान है, उसे भी तो उस प्रकार की कर्म-परम्परा में पड़ कर उसी ने प्रधान बनाया है, अतः उसे गद्दी से उतारने का भी अधिकार उसे स्वतः प्राप्त है। यह ही कारण है कि वह अपने स्वभाव अथवा आदत में भी परिवर्तन कर सकता है। जिस समय प्रयत्न करता करता वह अपने इस यक्षमन में सत्वगुण को प्रधान बना देगा तो इस की सब क्रियाओं का प्रवाह आत्मिक शान्ति की ओर बह चलेगा और बिना रोके ही इस का स्वयं निरोध होजावेगा। अतः कर्म करते चलना और कर्म के प्रवाह को सुमार्ग की ओर फेर देना ही बुद्धिमान् मनुष्य का काम है। भगवान् कृष्ण ने इस विषय का इस प्रकार प्रतिपादन किया है :—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ गीता ३।७

हे अर्जुन ! जो मन से इन्द्रियों को रोक कर और आसक्ति को छोड़ कर, कर्म-इन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ कर देता है, वह बढ़ जाता है ।

भगवान् कृष्ण के इस उपदेश में कर्म-यज्ञ का ब्रह्मा-आत्मा, यजमान मन में और ऋत्विक् इन्द्रियों में एक साथ ही परिवर्तन करने की चेष्टा कर रहा है । उधर इन्द्रियों को नियम में बांध कर उन में से रजोगुण की मात्रा को घटा रहा है । और इधर आसक्ति छुड़ा कर मन से भी राग को दूर करता हुआ रजोगुण को कम कर रहा है । परन्तु इस के साथ ही उसे यह भी ध्यान है कि ये सब आलसी होकर तमोगुण के चंगुल में ही न फंस जावें, अतः कर्मयोग को भी निरन्तर चालू रखने का यत्न कर रहा है । और ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट सिद्ध है कि सत्वगुण, प्रधान होजावेगा; उस के ये सब कर्म अब सत्वगुण की देखरेख में होंगे और वह महापुरुष बनता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त कर लेगा ।

यहां कृष्ण भगवान् ने मन और इन्द्रिय दोनों की बागडोर किसी तीसरी शक्ति के हाथ में दी है । इस से स्पष्ट सिद्ध है कि वह तीसरी शक्ति ही इन दोनों प्रकार की शक्तियों को अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर चला रही है । इन तीनों शक्तियों का अपना अपना क्षेत्र हमें यहां पृथक् पृथक् स्पष्ट दिखाई देरहा है । आत्मा इस सारे विषय-वर्ग रूप रस आदि को, इस सारे साधन-वर्ग मन और इन्द्रियों

को और इन की कार्य करने की शक्ति को भली भांति जानता है अतएव चैतन्य अथवा ज्ञान का आधार है। और अपनी इच्छा-शक्ति के बल से इन सब को काम में लगाता है। मन, इन्द्रियों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म और शक्तिशाली है और आत्मा के निकट है। वह स्वच्छ होता है, अतएव स्वयं चेतन न होता हुआ भी आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को अत्यन्त शीघ्रता से ग्रहण करता है, और चेतन की भांति काम करना आरम्भ कर देता है। इन्द्रियों तक इस की पहुंच है, अतः इन्द्रियों को प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण कराने का कार्य इसी के द्वारा हुआ करता है।

इन्द्रियें मन की अपेक्षा स्थूल हैं। वे आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को तो ग्रहण नहीं कर सकते, परन्तु प्राण-तन्तुओं के द्वारा मन की दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर लेते हैं और उस के आधार पर उन का कार्य आरम्भ होजाता है। इस प्रकार इन्द्रियों का केन्द्र मन के नीचे है। और मन का आत्मा के नीचे। अतः हमारे शरीर, इन्द्रियें, प्राण और मन इन सब से परे और इन सब से काम लेने वाली आत्मा की स्वतन्त्र, चेतन, पृथक् सत्ता है *।

प्रमाणों और युक्तियों से इस का विशेष-रूप से स्पष्टीकरण हम प्रत्यगात्मन के प्रकरण में करेंगे।

---

* यहां ज्ञानेन्द्रियों की रचना न्याय के आधार पर और कर्मेन्द्रियों की रचना वेदान्त के आधार पर लिखी गई है।

प्रज्ञान-मन

मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम कर रहा है उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। इस के पास ही चित्त का केन्द्र है जिसे कि इन मन्त्रों में चेतस् कहा है। बुद्धि का लोक मन का प्रकाशमय लोक है। ज्ञान-इन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रख कर उन की परख मन के इसी लोक में हुआ करती है। मनन और निदिध्यासन की सब क्रियाएं मन के इस भाग से सम्बन्धित हैं। ज्ञान-इन्द्रियों के द्वारा हमें जो अनुभव हुआ करते हैं उन सब के आकार तथा प्रभाव चित्त पर अङ्कित होजाते हैं। ये अनुभव अभी आरम्भिक स्थिति में हैं, चित्त के पटल पर इन का चित्रण हुआ तो अवश्य है परन्तु अभी वह उस स्थिति में नहीं है जिसे हम कुछ काल के लिये स्थायी कह सकें। इन में से बहुत से चित्र तो आकाश में प्रकट हुए मेघ के टुकड़ों की भांति तत्काल ही कहीं छिप जाते हैं। स्थिर वे ही अनुभव रहते हैं जिन पर बुद्धि काम करना आरम्भ कर देती है। जिस विषय का हम ने अनुभव किया है उस का बार बार युक्तियों और प्रमाणों से मनन करते हुए निश्चय की स्थिति तक पहुंचाना बुद्धि का ही काम है। बुद्धि के प्रकाश में लाकर चित्त के पटल पर अनुभव के

स्थिर कर देने का नाम निदिध्यासन है। मनोविज्ञान के इन मन्त्रों में भी बुद्धि को प्रकाश का केन्द्र ही कहा है। मन्त्र का अर्थ पाठक पहिले पढ़ आये हैं, अतः हम यहां मन्त्र के उतने ही भाग को उद्धृत करते हैं जितने के साथ बुद्धि का सम्बन्ध है। इस मन्त्र में पहिला वाक्य है यत्प्रज्ञानम् अर्थात् मन का एक भाग वह है जिसे प्रज्ञान या बुद्धि कहते हैं। और इस का लक्षण करते हुए इसी मन्त्र में आगे चल कर लिखा है यज्ज्योतिरन्तः जोकि अन्दर ज्योति अर्थात् प्रकाश-रूप है, वह प्रज्ञान-लोक है।

यद्यपि मन का यह पटल प्रकाश-मय है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में विषयों का वास्तविक रूप ही सदा प्रकट हो। हमारी बुद्धि की भी तीन अवस्थाएं हैं। कभी इस का प्रकाश, आंखों की पुतलियों पर छाए हुए जाले की भांति तमोगुण के बढ़जाने पर धुंधला होजाया करता है। इस अवस्था में कितना ही यत्न करने पर भी बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को देख ही नहीं सका करती। ऐसी अवस्था भी आजाया करती है जब कि तमोगुण से दूषित बुद्धि वस्तु के स्वरूप को सर्वथा विपरीत देखने लगती है। बुद्धि का यह पटल प्रकाशमय होता हुआ भी अन्धकार-मय है। अतएव उन्नति के अभिलाषी विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को अपनी बुद्धि को तमोगुण के इस पङ्क में फंसने से सदा बचा रखना चाहिये।

बुद्धि को इस कीचड़ से बचा रखने का उपाय यह ही है जोकि आलस्य-महाशत्रु से शरीर के अन्य अङ्गों को

इच्छा रखने का है।

आलस्य भी तमोगुण का ही एक दूत है। और जब इस का आक्रमण शरीर पर होता है, तो प्रत्येक अङ्ग ढीला और बोझल होजाता है। हाथ पैर हिलाने और उठने को मन नहीं चाहता। साहसी मनुष्य आलस्य की इन बेड़ियों को, जिन्हों ने कि उस के शरीर को जकड़ लिया है, काटने की चेष्टा करता है। पहिले वह उस के उस भण्डार को, जहां से यह स्रोत आरहा है, खाली करने की चेष्टा करता है। वह अपने खान-पान की उस सामग्री पर नियन्त्रण करना आरम्भ करता है जो शरीर में अनावश्यक कफ और तमोगुण को जन्म देरही थी। और फिर जितना यह दोष शरीर में प्रविष्ट होगया है उसे निकाल बाहर करने के लिये व्यायाम तथा कर्त्तव्य परायण कार्य-क्रम का आरम्भ करता है। जिस प्रकार मन्थन से दही में तप के प्रकट होते ही मक्खन निकल आता है, मन्थन से ही दो लकड़ियों के तपते ही उन में से छिपी हुई अग्नि प्रकट होजाती है, ठीक इसी प्रकार कार्य-क्रम की अटूट आयोजना कर कर्तव्य-परायण होते ही शरीर के सब अङ्ग तपोमय बन अपनी आलस्य की बेड़ियों को काट तमोगुण को भस्म देने में सफल होजाते हैं। और रजोगुण का साम्राज्य आरम्भ होते ही हमारी बुद्धि से भी तमोगुण का अन्धकार-मय पटल उठ जाता है।

तमोगुण की जड़ता दूर होजाने पर अब आलस्य के स्थान पर चञ्चलता तथा गति का क्रम आरम्भ होता है। अब कार्य में तत्पर रहने को मन चाहता है। लम्बे चौड़े मनोरथों की माला प्रस्तुत होने लगती है। उन के पूर्ण करने

के साधन जुटाने के उपाय आरम्भ होजाते हैं। शरीर के सब अङ्ग कार्य में जुट जाते हैं और अनेक स्थानों पर सफलता के भी दर्शन होने लगते हैं। यह सब कुछ होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कार्य-क्रम का यह रथ जीवन के उस ध्येय की ओर ही बढ़ा जारहा हो जिसे हम जीवन-तरुवर का मीठा फल कहते हैं। कारण स्पष्ट है कि जिस प्रकार आकाश में चमकती हुई विद्युत् की चञ्चल तरङ्गें, विषय को प्रकाश में लाकर प्रकट तो कर देती हैं, परन्तु उस स्थान से झट ही हटजाने के कारण उस का सर्वाङ्ग निर्णय कराने में समर्थ नहीं होतीं। इसी प्रकार रजोगुण की तीव्र गति में बहती हुई बुद्धि के प्रकाश की तरङ्गें भी उस कार्य-क्रम का यथार्थ निर्णय करने में समर्थ नहीं हुआ करतीं, जिस का कि परिणाम व्यापक शान्ति और प्राणि मात्र के सुख को बढ़ाने के रूप में प्रकट होसके। रजोगुण का चला हुआ विक्षेप का यह चक्र; मन, प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि किसी को भी स्थिर नहीं होने देता। कार्य अत्यन्त वेग से चलता है, परन्तु फल की ओर दृष्टिपात करने पर अशान्ति और क्लेश की ही दहकती हुई अग्नि हमें अपनी ओर आती दिखाई देती है। दृष्टान्त के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हम आज कल के ही प्रकृति-पूजक वैज्ञानिक जगत् की ओर एक दृष्टि उठा कर देख सकते हैं। रजोगुणी बुद्धि मनुष्य को, दत्तचित्त होकर कार्य करने की ओर तो अग्रसर कर देती है, परन्तु विवेक से वह कोसों दूर रहती है।

इस प्रकार घृणित फल को जन्म देने वाले इस कार्य-क्रम से मनुष्य ऊब जाता है। और अब चाहता है कि बुद्धि

का वह आलोक मिले, जिस में स्थिरता और उज्ज्वल सात्विक झलक हो। जिस के प्रशान्त प्रकाश की किरणें विश्व-व्यापी शान्ति-देवी के मन्दिर का मार्ग बतला रही हों। जिसे सैंकड़ों उपदेशक उपदेश दे दे कर थक चुके थे और कान पर जूं तक नहीं रेंगी थी, वह ही आज अपने कार्य-क्षेत्र की लम्बी-चौड़ी दौड़ के भयङ्कर परिणाम को देख कर, बुद्धि के इस तीसरे पटल की गम्भीर खोज में लगा है। बल-पूर्वक लगी हुई ठोकर मनुष्य की आंखें खोल देती है। इस की पहुंच वहां भी है जहां विज्ञान और उपदेश दोनों की दाल नहीं गलती।

बुद्धि के इस सात्विक लोक में पहुंचने के लिये यात्री के हाथ में धैर्य और सन्तोष का होना अत्यन्त आवश्यक है। स्थिरता की चेष्टा करने पर भी रजोगुण का प्रबल वेग उसे सहसा उठा कर कोसों दूर फेंक देगा। परन्तु विवेक के शीतल प्रकाश की चमक में वह फिर भी अपने आप को अपने ध्येय की ओर सीधा मुख किये हुए अटल खड़ा पावेगा। जिस प्रकार पानी में पत्थर फेंकते रहने पर उसे अचल देखने की इच्छा निराधार है, उसी प्रकार कामनाओं का चक्र चलाते हुए बुद्धि में स्थिरता अथवा सत्वगुण के सञ्चार की कामना भी निर्मूल है। जो विद्यार्थी और अभ्यासी बुद्धि के इस लोक का दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें रजो-गुणी पदार्थों का सेवन छोड़ सात्विक पदार्थों का [illegible] करना पड़ेगा और अपने निरन्तर चलते हुए [illegible] को रोक निष्काम कर्मयोग की शरण लेनी पड़ेगी। उन्हें अपने हृदय-मन्दिर के कपाट प्राणिमात्र के लिये खोल देने

होंगे और अपने स्वार्थ की आहुति दीन और दुखियों के भूखे पेट में डाल देनी होगी। उन्हें अपने कानों को विश्व-व्यापी शान्ति का मनोहर गान सुनने के लिये खोल रखना होगा, और विश्व की आत्माओं में बहती हुई अपने प्रेम की गङ्गा के मनोहर दृश्य देखने के लिये उत्सुक रहना होगा। यदि उसे ये सब दृश्य देखने का अवसर मिल सका, तो समझना चाहिये कि उस की बुद्धि में सत्वगुण जाग उठा है। और रजोगुण उस का अनुवर्ती होकर कार्य करने के लिये विवश होगया है। बुद्धि में सत्वगुण का विकास होजाने पर वह सत्य का पोषण करने लगता है। अब उस के निर्णय यथार्थ होते हैं, ध्येय निश्चित होजाता है, संशय और तर्क-वितर्क कर्तव्य से विचलित करने के लिये आगे नहीं बढ़ते और मनुष्य को अपना कर्तव्य-पथ, आदित्य के उज्ज्वल प्रकाश में पदार्थों की भांति, इस बुद्धि के प्रकाश में, स्पष्ट दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार गम्भीर जल में फेंका हुआ पत्थर उस में स्थायी क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्षणिक क्षोभ की एक तरङ्ग उठती है और किनारे पहुंचती ही शान्त होजाती है। और जल फिर अपनी उसी समतल रेखा में स्थिर पाया जाता है। ठीक इसी प्रकार मार्ग में आये हुए विघ्न-बाधाओं के क्षोभ-कारक प्रहार भी इस बुद्धि में क्षणिक क्षोभ को उत्पन्न कर नष्ट होजाते हैं। और यह फिर अपने उसी प्रथम आकार में चमकती हुई निश्चल दिखाई देती है। रजोगुण की प्रधानता के समय इस के प्रकाश को विद्युत् के प्रकाश की उपमा दी गई थी, परन्तु अब हम उस के प्रकाश को सूर्य के प्रकाश की उपमा दे रहे हैं। बुद्धि के

प्रकाश की स्थिरता और स्पष्टता ही उसे इस उपमा के मिलने में कारण हैं। सत्व-प्रधान बुद्धि की व्याख्या करते हुए कृष्ण भगवान् ने गीता में लिखा है :—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥

गीता १८।३०

धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष इन सब को जो जानती है, हे अर्जुन ! वह सात्विकी बुद्धि है।

यह कर्म, धर्म है और यह अधर्म यह निर्णय, एक जटिल समस्या का हल है। आज जो कर्म मेरे लिये धर्म है कल ही दूसरी अवस्था में जाकर वह अधर्म होजाता है। मैं संग्राम-भूमि में लड़ने जारहा हूं। मैंने मार्ग को ध्यान से न देखा और मेरे पैर के नीचे आकर एक छोटा सा कीड़ा कुचला गया और मर गया। देखने वाला धार्मिक मनुष्य मेरे इस कर्म को अधर्म और मुझे धर्म से पतित कहेगा। मैं संग्राम-भूमि में पहुंच जाता हूं, लड़ाई आरम्भ होजाती है, लक्ष्य की ओर भली भांति दृष्टि बांध कर एक के अनन्तर दूसरा तीर फेंकना आरम्भ कर देता हूं और सैंकड़ों वीरों को मृत्यु के कराल गाल में भेज देता हूं। यदि मैं वीरता से लड़ा हूं और छाती में तीर खाकर भी एक पग पीछे नहीं हटाया, तो इतनी हत्याएं करने पर भी लोग मेरे इस कर्म को धर्म और मुझे धार्मिक कहेंगे।

धर्म और अधर्म के विवेक की उलझन का यह एक

मोटा सा दृष्टान्त है । इन दोनों के विवेक की समस्याएं मनुष्य के सामने प्रतिदिन आती हैं; और इतनी उलझी हुई आती हैं कि कई स्थानों पर शास्त्र-वेत्ता लोगों की परिष्कृत बुद्धि भी कुण्ठित होजाती है। परन्तु सत्वगुणी बुद्धि की ऐसी महिमा है कि उस के प्रकाश में यह सब गांठें बात की बात में खुलती चली जाती हैं। जिस ने शास्त्रों को नहीं भी पढ़ा उस मनुष्य को भी इस बुद्धि के प्रकाश में धर्म और अधर्म का भेद ऐसा ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में गुलाब और चमेली के फूल का। यह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं, कि 'हो सकता है' । अनपढ़ भगवद्भक्तों के वचन बहुत से स्थानों पर सत्य होते देखे गये हैं। उन्होंने इस विषय को कैसे जान लिया होगा ? इस प्रश्न का उत्तर वह मनुष्य कैसे देगा और वह समझने वाला कैसे समझेगा, जिस के पास सात्विक बुद्धि की वह उज्ज्वल ज्योति नहीं है, जो कि उस भगवद्भक्त के पास थी। जो जिज्ञासु इस प्रश्न का उत्तर लेना चाहते हैं उन्हें तपश्चर्या की दहकती हुई भट्टी में डाल अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को कुन्दन बनाना होगा। अर्थात् उन के रोम रोम में रमे हुए तमोगुण और और रजोगुण के मलों को भस्म कर उन का स्थान सत्वगुण के समुज्ज्वल प्रकाश के अर्पण करना होगा ।

जिस प्रकार धर्म और अधर्म का विवेक-ज्ञान कठिन समस्या है, इसी प्रकार कर्तव्य और अकर्तव्य का पहिचानना भी टेढ़ी खीर है ।

मुझे अब क्या करना चाहिये ? यह समस्या संसार-यात्रा के प्रत्येक यात्री के सामने अनेकों बार आती है। और कई बार तो इतनी उलझी हुई आती है कि सुलझाना कठिन होजाता है। अर्जुन की इस समस्या को कि "लड़ूं या नहीं ?" और अपनी इस समस्या को कि "मैं कौरवों का साथ दूं या पांडवों का ?" सत्वगुणी बुद्धि के धनी योगिराज कृष्ण भी कितनी कठिनाई से सुलझा सके थे, इस बात को इतिहास के पढ़ने वाले लोग भली भांति जानते हैं। परन्तु जीवन की इस विकट समस्या की पूर्ति का सरल उपाय भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक के एक शब्द में ही बतला दिया है, कि बुद्धि में सत्वगुण को प्रधान कर दो।

कर्तव्य और अकर्तव्य की भांति बन्ध और मोक्ष का विवेक करना भी सत्वगुणी बुद्धि का ही काम है। एक ही कारागार के दो कैदियों में से साधारण कैदी अपने आप को बंधा हुआ मान रहा है और जमादार अपने आप को कुछ स्वतन्त्र समझ प्रसन्न होरहा है। परन्तु बाहर सड़क पर घूमता हुआ एक नागरिक अपने आप को स्वतन्त्र और जमादार को बंधा हुआ समझता है। उसी भारतीय नागरिक को जब एक जापानी नागरिक सड़क पर फिरता हुआ देखता है तो वह अपने आप को स्वतन्त्र और भारतीय को बंधन में जकड़ा हुआ पाता है। जिस मनुष्य के हृदय से देश और जाति के बन्धन उठ चुके हैं वह उस जापानी को भी अपनी अपेक्षा बंधा हुआ पाता है। इसी प्रकार क्रम से; शरीर से ऊंचा उठा हुआ, प्राणों से ऊपर गया हुआ, मन से पृथक् हुआ हुआ और विज्ञान-मय कोष से भी छूटा हुआ मनुष्य

पहिलों की अपेक्षा अपने आप को मुक्त और दूसरों को बद्ध समझता है। इस प्रकार कर्तव्य और अकर्तव्य की भांति बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था देना भी साधारण बात नहीं। अपेक्षाकृत किस अंश में कौन मुक्त है और कौन बद्ध, कैसे अधिकारी के लिये मोक्ष के कैसे साधन चाहियें, यह विवेचन करना एक विशेष बुद्धि का ही काम है। और वह विशेष बुद्धि है सत्वगुणी बुद्धि।

हम पहिले लिख आये हैं कि अनुभव के बाद चित्त पर पड़े हुए प्रभावों, अङ्कनों अथवा चित्रों का स्पष्टीकरण बुद्धि की देख-रेख में होता है, और उन का पालन-पोषण भी निश्चय के द्वारा बुद्धि-माता की ही गोद में हुआ करता है। इन अङ्कनों को उत्पन्न मन ने किया, रहने के लिये स्थान चित्त ने दिया और इन का पालन-पोषण अब बुद्धि के हाथों में हो रहा है।

मन, चित्त और बुद्धि की इन सब क्रियाओं को पृथक् बैठी हुई एक और भी शक्ति देख रही है। और कभी कभी अपनी इच्छा-शक्ति का सहारा दे इन के कार्य-क्रम को सरल बनाने का यत्न भी कर दिया करती है। इस पृथक् शक्ति को हम चेतन-सत्ता अथवा आत्मा कहते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों के क्षेत्र से मन का, उस से चित्त का और उस से बुद्धि का क्षेत्र परे है, इसी प्रकार बुद्धि के क्षेत्र से भी आत्मा का क्षेत्र पृथक् उस पार और विशाल है। आत्मा के इस क्षेत्र का वर्णन इस पुस्तक के और अध्याय का विषय है, अतः यहां उस के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं। यहां तो हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मिक

इच्छा-शक्ति के नियन्त्रण में चित्त पर पड़ी हुई अनुभवों की हलकी सी छाप पर बुद्धि क्या चित्रकारी कर रही है। इस विषय को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं, कि वह कच्ची पैंसिल से खिंचे हुए इन चित्रों पर पक्की स्याही की कलम फेर रही है। बिखरे हुए चित्र-फूलों को चुन चुन कर यथा स्थान एक सूत्र में पिरो, सुन्दर माला बना रही है। चित्त में पड़े हुए कच्चे माल का, व्यापार के क्षेत्र में भेजने योग्य पक्का माल प्रस्तुत कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चित्त में आई हुई विचार-धारा को तर्क और विवेक की कसौटी पर परख परख श्रेष्ठ विचारों को तो परिपक्व बना, चित्त के एक कोने में संभाल कर रख रही है और शेष ऐसे प्रभावों को जो अनावश्यक और व्यर्थ थे, उपेक्षा की दृष्टि से देख भुलाती हुई, चित्त के पटल से बाहर निकाल रही है।

बहुधा विद्यार्थी यह समझा करते हैं कि बुद्धि परमात्मा की देन है। और वह हमें जैसी मिली है वैसी ही रहेगी, उस में कोई परिवर्तन नहीं होसकता। परन्तु उन की यह धारणा ठीक नहीं है। जैसी बुद्धि इस समय हमारे पास है उस का निर्माण हम ने स्वयं किया है और भविष्य में भी उस के परिवर्तन और परिवर्धन हमारे अपने ही हाथ में हैं। परमात्मा की देन समझ कर भाग्य की दुहाई देने वाले लोग अपनी निर्माण-शक्ति को निर्बल कर रहे हैं और हाथ में आया हुआ एक सुअवसर खो रहे हैं।

हां यह माना जासकता है कि बुद्धि-निर्माण के जहां और बहुतसे साधन हैं उन में से "प्रभु से सहायता का

प्राप्त करना" भी एक साधन है। परन्तु इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि परमात्मा हमारी बुद्धि का निर्माण कर रहे हैं। अपनी बुद्धि का निर्माण हम स्वयं कर रहे हैं, और अपनी इस निर्माण-शक्ति को और भी अधिक बल देने के लिये प्रभु की सहायता ले रहे हैं।

जिस विश्वमानस से हमारे मनोमय का निर्माण हुआ है, वह आकाश-मण्डल में सर्वत्र भरा पड़ा है। इस पर जीव का नहीं ईश्वर का अधिकार है। महर्षि कपिल ने इस का वर्णन निम्न सूत्र में इस प्रकार किया है :-

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः। सांख्य १।७१

महत् नाम का पहिला प्रकृति का परिणाम है जिसे मन कहते हैं। इस मानस में सब प्रकार की शक्तियों का सञ्चय है। हमारा मनोमय अब भी उसी से अपने स्वरूप के अनुकूल शक्ति प्राप्त करता हुआ जी रहा है। अपनी बुद्धि-शक्ति को उन्नत करने के साधन भी इसे इसी विश्व-मानस से मिल रहे हैं। परन्तु उन्हें अ.र भी अधिक मात्रा में प्राप्त कर बुद्धि का उन्नत निर्माण करने के लिये उसे अब और भी सावधान होकर आयोजना करनी होगी।

हम पहिले लिख आये हैं कि बुद्धि को स्वच्छ और स्थिर बनाये बिना, विषय का यथार्थ निर्णय और स्मरण-शक्ति का उन्नयन, दोनों असम्भव हैं। और ये ही दोनों उन्नत बुद्धि के कार्य हैं। बुद्धि के ये दोनों गुण बुद्धि में सत्वगुण के प्रधान हुए बिना विकास में नहीं आसकते। और बुद्धि को इस गुण की प्राप्ति विश्वमानस के अटूट भण्डार से

होगी। परन्तु विश्वमानस भी इस गुण को स्वयं उठा कर बुद्धि के पास न फेंक देगा, प्रत्युत बुद्धि को ही अपने अन्दर ऐसी आकर्षण-शक्ति का प्रादुर्भाव करना होगा, जो विश्व-मानस से इस सत्व शक्ति को खींच सके। और वह शक्ति निश्चय ही सत्वगुण होगा। क्योंकि समान धर्म ही अपने सजातीय को खींच सकता है।

इस प्रकार इस विचार-माला से हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं, कि इस समय हमारी बुद्धि में गुणों की दृष्टि से जो कुछ भण्डार है, उस में से सत्वगुण को बचा कर शेष दो गुणो का तिरोभाव करने की चेष्टा करनी चाहिये, तब ही हम बाहर से बुद्धि के लिये उपयोगी शक्ति का संग्रह कर सकेंगे। हमें यह कार्य करने के लिये विधि और निषेध दोनों मार्गों की शरण लेनी होगी। परन्तु इन मार्गों का अनुसरण करने से पहिले यह भी देखना होगा कि हमारी बुद्धि को अनुकूल अथवा प्रतिकूल सामग्री मिल कहां से रही है। चारों ओर दृष्टिपात करने पर हमें इस सामग्री की प्राप्ति के निम्न लिखित साधन प्रतीत होते हैं :-

१—हम अपने पूर्वजन्म से संस्कारों के रूप में कुछ साथ लेकर आये हैं।

२—हमें अपने माता पिता की भावनाओं से कुछ मिला है।

३—हमें अपने समीपवर्ती सहयोगी जन-समुदाय से कुछ मिलता रहता है।

४—हम अपने नित्य के भोजन की विशेषताओं के प्रभाव से अपनी बुद्धि में किसी विशेष गुण का समावेश किया करते हैं।

५—हमारी शिक्षा के उद्देश्य तथा विषय का चुनाव, शिक्षा-काल में हमारी बुद्धि को किसी विशेष गुण के रंग में रंगने की चेष्टा किया करता है।

६—हम अपने व्यावहारिक अथवा धार्मिक, किसी भी कार्य-क्षेत्र में, जिस गुण की प्रधानता का आश्रय लेते हुए कार्य किया करते हैं, उस गुण का ही प्रादुर्भाव हमारी बुद्धि में होता चला जाता है

हमें बुद्धि में गुण-सन्निवेश के कारणों का ज्ञान हो गया। अब विधि निषेध की क्रियाओं द्वारा बुद्धि के स्वरूप निर्माण में लगने से पहिले यह भी जान लेना आवश्यक है कि इस समय हमारी बुद्धि में कौन सा गुण प्रधान है। और यह ज्ञान विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को तब ही हो सकेगा जब कि वे इन तीनों गुणों का स्वरूप जान लेंगे। अतः पहिले हम संक्षेप में इन गुणों के स्वरूप का निर्देश किये देते हैं :—

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलश्च रजः। गुरु-वर्णकमेव तमः। (सांख्य-कारिका)

सत्वगुण हलका और प्रकाश करने वाला, रजोगुण चञ्चल और ओढ़ने वाला और तमोगुण भारी और रोकने अथवा ढांपने वाला माना गया है।

तात्पर्य यह है कि सत्वगुण के प्रधान होने पर शरीर के सब अङ्ग हलके हो जावेंगे, इन्द्रियों में शीघ्र विषय को ग्रहण करने की और बुद्धि को शीघ्र निर्णय करने की क्षमता प्राप्त होगी तथा उस में स्थिरता के चिन्ह दृष्टिगोचर होंगे।

रजोगुण के प्रधान होने पर सब अङ्गों, इन्द्रियों, मन और बुद्धि में चञ्चलता दृष्टिगोचर होगी; शरीर का गठन दृढ़ होगा; चञ्चलता के कारण बुद्धि विक्षिप्त रहेगी और इसी लिये उस के द्वारा किसी विषय का निर्णय निश्चित न होगा।

तमोगुण के प्रधान होने पर सब अङ्ग भारी प्रतीत होंगे, शरीर पर आलस्य छाया रहेगा। अतएव मन और इन्द्रियों को काम में लगने के लिये कठिनता से प्रेरित किया जा सकेगा, और बुद्धि की शक्ति कुण्ठित होजावेगी। तथा उस में प्रकाश के स्थान पर अन्धकार का साम्राज्य होगा।

गुणों के स्वरूप को जानने के बाद अब हम अपने शरीर की परिस्थिति का भली भांति अनुभव कर यह जान सकते हैं कि इस समय हमारी बुद्धि में कौन सा गुण प्रधान है। बुद्धि की इस परीक्षा के बाद अब हमें विधि-निषेध के कार्य-क्रम को आरम्भ करना होगा। हम अपनी बुद्धि में जिन गुणों का उदय देखना चाहते हैं, उस के अनुकूल कार्य-क्रम का अपनाना विधि और जिन गुणों का उस में अभाव चाहते हैं, उन के अनुकूल साधनों का छोड़ना निषेध है।

बुद्धि में गुणों का संग्रह होने के छः अवसर हैं, यह हम पहिले प्रकट कर आये हैं। इन में से पहिला अवसर है, "पूर्वजन्म के संस्कारों के आधार पर गुणों की प्राप्ति"। पूर्वजन्म में हम जिस प्रकार की कर्म-परम्परा में चल रहे थे, उस से हम कुछ संस्कारों का कोष संग्रह कर चुके हैं। और उस कोष में बहुत से संस्कार, अधिक अभ्यास के कारण ऐसे भी होंगे जो आदत का रूप धारण कर गये

होंगे। हमारी उन आदतों का जन्म, तमोगुण आदि में से जिस गुण के क्षेत्र में हुआ होगा, हमारी वह आदत, कार्य का आरम्भ करते ही इस जन्म में भी हमें, उसी गुण के केन्द्र में रह कर कार्य करने के लिये विवश करेंगी। और यदि अपना कोई ऊंचा जीवन का उद्देश्य चुन कर हम उस गुण के नहीं, किसी और गुण के क्षेत्र में काम करना चाहेंगे तो हमारी वह आदत हमारे मार्ग में एक प्रबल चट्टान बन कर खड़ी हो जायेगी, जिस का कि पार करना हमारे लिये कठिन होगा। यदि हमारी बुद्धि में पूर्वजन्म के तमोगुण और रजोगुण का संग्रह है, इस के अनुकूल ही हमारी आदत बनी हुई है, और हम चाहते हैं सत्वगुण के केन्द्र में रह कर काम करना, तो हमें पहिले निषेध का कार्य-क्रम आरम्भ करना होगा।

रजोगुण की सहायता के बिना किसी भी गुण के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः हमें अभी रजोगुण को तो साथ रखना ही पड़ेगा। बात केवल शेष इतनी ही रह जाती है कि हम उस का गठ-जोड़ा तमोगुण के साथ करें या सत्वगुण के।

यदि हम अपने जीवन का लक्ष्य ऊंचा रखना चाहते हैं, और अपना कार्य-क्रम सत्वगुण के क्षेत्र में रह कर चलाना चाहते हैं तो हमें रजोगुण का सम्बन्ध सत्व से जोड़ना होगा। और इस प्रकार हम अपने जीवन में दैवी-सम्पत्ति का संग्रह कर सकेंगे। और यदि हम में से कोई भूल से तमोगुण के क्षेत्र में रह कर कार्य कर रहा है, तो फलतः यह कहना होगा कि वह अपने रजोगुण का तमोगुण से

योग कर आसुरी सम्पत्ति का संग्रह कर रहा है। चाहे उसे इस बात का पता न हो कि मैंने अपने रजोगुण को तमोगुण का साथी बना दिया है, और अतएव मेरे पास आसुरी सम्पत्ति सञ्चित होती चली जारही है, और चाहे वह जानता हुआ भी जानबूझ कर इस वस्तु की उपेक्षा कर रहा हो, दोनों ही अवस्थाओं में उस के कर्म का फल उसे बांध बिना रहेगा नहीं।

तात्पर्य यह है कि तमोगुण के क्षेत्र में रह कर कार्य करने वाले मनुष्य की बुद्धि में, तमोगुण, और उस से उत्पन्न हुए अनेक आसुरी भावों का संग्रह हो जावेगा और फिर वह अपने आप को एक घोर अन्धकार में खड़ा पावेगा, जहां पहुंच कर उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का कोई भी मार्ग सूझ न सकेगा। अतः उसे तमोगुण और उस से उत्पन्न होने वाले सब आसुरी भावों के साथ असहयोग-रूप निषेधात्मक कार्य-क्रम आरम्भ कर देना चाहिये, और इस के साथ ही सत्त्वगुण और दैवी भावों का संग्रह करने के लिये विध्यात्मक कार्य-क्रम भी आरम्भ कर देने की चेष्टा करनी चाहिये।

सत्त्व+रज और तम+रज इन दो गुण-योगों के आधार पर काम करने वाले मनुष्यों के हृदयों में दैवी तथा आसुरी किन किन भावों का उदय होजाता है इस का वर्णन कृष्ण भगवान् ने गीता के सोलहवें अध्याय में बड़ा सुन्दर किया है। विद्यार्थियों तथा अभ्यासी सज्जनों के सुभीते के लिये उस प्रकरण को हम यहां उद्धृत किये देते हैं।

"अर्जुन! आसुरी सम्पत्ति के धनी मनुष्य के पास दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान का

संग्रह होजाता है। वह धर्म और अधर्म में विवेक नहीं करता। शौच, सदाचार और सत्य उस के पास नहीं फटकते। वह जगत् को झूठा और क्षण-भंगुर मानने लग जाता है, और इस के निर्माण-कर्ता ईश्वर में आस्था नहीं रखता। वह कहने लग जाता है कि इस जगत् की उत्पत्ति किसी परस्पर सहयोग से नहीं हुई, इस का एकमात्र प्रयोजन काम-वासना की पूर्ति है और यह ऐसे ही चला आरहा है। वह नष्टात्मा, अल्पबुद्धि इस विचार-धारा का आश्रय लेकर भयङ्कर कर्म करने पर उतारू होजाता है, और जगत् का नाश और अहित करना आरम्भ कर देता है। वह कामनाओं का ऐसा गढ़ा खोद लेता है जो भरा ही नहीं जा सकता, और कपट, मान, और अभिमान के पञ्जे में फंस जाता है। वह भ्रान्ति से असत्य-मार्ग को पकड़ कर अपवित्र व्यवहार करने लगता है, विनाशकारक अनन्त चिन्ताओं को सहेड़ लेता है, और काम-वासना की पूर्ति को ही अपना सर्वस्व मान बैठता है। वह सैंकड़ों आशाओं के जाल में फंस जाता है, काम और क्रोध का अभ्यासी बन जाता है और काम की पूर्ति के लिये अन्याय से धन संग्रह करना आरम्भ कर देता है। मेरा यह मनोरथ पूरा होगया, और अब यह पूरा करूंगा। यह धन है, यह और हो जावेगा। यह शत्रु मार दिया औरों को भी मार दूंगा। मैं ईश्वर हूं, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान् हूं, सुखी हूं, धनवान् हूं, उपनिवेशों का स्वामी हूं, मेरे बराबर और कौन है, इस प्रकार अनेक प्रकार की भ्रान्तियों में, अज्ञान में और मोह-जाल में फंस कर काम-भोग में ही लगा हुआ घृणित नरक का गामी होता है।

हे अर्जुन ! जिन लोगों ने दैवी सम्पत्ति को अपनाया है वे निर्भय होते हैं, उन का सत्वगुण विशुद्ध होता है, वे ज्ञान-योग की व्यवस्था को जानते हैं । दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का त्याग, त्याग, शान्ति, चुगलखोरी का त्याग, प्राणियों पर दया, लालच का त्याग, कोमलता, लज्जा, चञ्चलता का त्याग, तेज, सहनशीलता, धैर्य, पवित्रता, वैर का त्याग, अधिक अभिमान का त्याग, ये सब गुण उन की अपनी सम्पत्ति होते हैं" ।

तमोगुण को प्रधान बना कर रजोगुण की सहायता से काम करने वाले मनुष्य आसुरी सम्पत्ति के, और सत्व-गुण को प्रधान बना कर रजोगुण की सहायता से काम करने वाले मनुष्य दैवी सम्पत्ति के धनी होते हैं ।

इस लिये अपने विशुद्ध लक्ष्य पर पहुंचने के लिये विद्यार्थी तथा अभ्यासी को आसुरी सम्पत्ति में गिनाये गये अवगुणों को त्याग कर दैवी सम्पत्ति में गिनाये गये गुणों का संग्रह करना चाहिये । तब ही वे अपनी बुद्धि में सत्वगुण का विकास कर सकेंगे, और उन की बुद्धि विश्वमानस से भोजन प्राप्त कर अपने सत्वगुण को बढ़ाने में समर्थ हो सकेगी । इस कार्य-क्रम को अपना लेने पर पूर्वजन्म की अभ्यस्त की गई आदतों पर अधिकार पालेना उन के लिये कठिन न होगा और जीवन यात्रा का कांटा बदल अपने मानस-रथ को इच्छित मार्ग पर चलाने में सफल हो सकेंगे ।

बुद्धि में गुण-सन्निवेश का दूसरा स्रोत हम ने, "गर्भ-काल में अथवा बालकपन में माता पिताओं की भावनाएं"

लिखा है। यद्यपि यह बात माता पिता के अधिकार की है, और प्रत्येक माता पिता को अपने बालक को सात्विक भावना का धनी बनाने के लिये गर्भ-काल में और बालक के बालकपन में अपनी भावनाओं पर पूरा अधिकार रखना चाहिये। परन्तु जिन बालकों को दौर्भाग्यवश माता-पिताओं से ऐसी विपरीत भावनायें मिल चुकी हों, उन्हें विधि-निषेध की उन्हीं प्रक्रियाओं से जिन से कि अपने पूर्वजन्म के आसुरी भावों से छुटकारा पाया है, इन भावनाओं से भी पिण्ड छुड़ाना चाहिये।

गुण-सन्निवेश का तीसरा स्रोत है "सहयोगी जन-समुदाय का प्रभाव"।

यह स्रोत भी बड़ा प्रभावशाली है। जिन बालकों के साथ बालक खेलता है, और जिन मित्रों के सहयोग में रहता है, उन की भावनाओं का रङ्ग उस पर न चढ़ेगा, यह कब सम्भव है? अवश्य ही उस की बुद्धि उन के रङ्ग में रंगी जावेगी, और उस गूढ़ रङ्ग का उतारना उस मनुष्य के लिये कठिन कार्य होगा। अतः बालक की अत्यन्त अज्ञान अवस्था में तो माता पिता को स्वयं अपने बालक को कुसङ्ग से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, और फिर गुरुजनों को अपनी प्रभावशाली भावनाओं और अपने भावपूर्ण उपदेशों से उस के हृदय में कुसङ्ग के लिये इतनी घृणा उत्पन्न कर देनी चाहिये कि वह धक्का देने पर भी उधर जाने की चेष्टा न कर सके। परन्तु अपनी स्थिति को संभालने योग्य होने पर तो उसे स्वयं ही कुसङ्ग से बचने की चेष्टा करनी होगी। और वह चेष्टा इस प्रकार की जावेगी कि उसे अपने

हृदय में कुसङ्ग के लिये घृणा के भाव जगाने होंगे। और वे इस प्रकार कि जिन लोगों ने कुसङ्ग से जो जो हानियें उठाई हैं उन के इतिहास को बार बार बुद्धि के प्रकाश में लाकर, अपने ऊपर आने वाले उसी प्रकार की आपत्तियों के दृश्य बार बार देखने होंगे। और जिन लोगों ने सत्सङ्ग से लाभ उठाये हैं उन लाभों को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा मन में जगानी होगी। जीवन-चर्या में इस प्रकार सावधान होने पर यह स्रोत भी बुद्धि को तमोगुण से आच्छादित न कर सकेगा।

हमारी बुद्धि में तमोगुण को जन्म देने वाला चौथा स्रोत है, "भोजन"। भोजन जहां शरीर को पुष्ट करता है, हमारे मन का भी पालन पोषण इसी से होता है। उपनिषद् में आता है :—

अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्।

हे सोम्य! मन अन्न से, प्राण जल से और वाणी तेज से बनती है।

इस आर्ष वचन के अनुसार मन के ऊपर अन्न के गुण का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। मन शब्द यहां अन्तःकरण के अर्थों में ही आया है अतः अन्न के गुण का प्रभाव बुद्धि पर भी अवश्य पड़ेगा। अतः बुद्धि में सत्वगुण को बढ़ाने के लिये भोजन भी सात्विक होना चाहिये। गीता में कृष्ण भगवान् ने रसीले, चिकने, देर तक रहने वाले, हृदय को प्यारे लगने वाले, आयुः, सत्वगुण, बल, नीरोगता, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले भोजन सात्विक; चरपरे, खट्टे,

नमकीन, गरम, तेज़, रूखे, जलन को पैदा करने वाले, दुःख रोग और शोक को पैदा करने वाले अन्न रजोगुणी; बासे, नीरस, सड़े हुए, खाने से बचे हुए, कफ को बढ़ाने वाले और बुद्धि को निर्बल करने वाले भोजन तमोगुणी लिखे हैं। विद्यार्थी और अभ्यासी की उन्नति बुद्धि में सत्वगुण का विकास होने पर निर्भर है। क्योंकि उन्हें स्थिर और प्रकाश वाली बुद्धि चाहिये। और स्थिरता तथा प्रकाश सत्वगुण के धर्म हैं, अतः उन्हें चेष्टा करनी चाहिये कि उन का भोजन सात्विक हो। भोजन, तत्व के रूप में तो सात्विक् होना ही चाहिये, इस के साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसे प्राप्त भी सात्विक् भावना से किया गया हो। यदि वह भोजन किसी प्राणी को कष्ट देकर प्राप्त किया गया होगा तो वह स्वरूप से सात्विक गुणों वाला होता हुआ भी बुद्धि में सात्विक भावनाओं को उत्पन्न न कर सकेगा। कारण यह है कि दूसरे प्राणी को कष्ट देकर अन्न को प्राप्त करने वाला मनुष्य अपनी बुद्धि में हिंसक अर्थात् रजोगुणी भावनाओं को जन्म दे रहा है, सत्वगुण के धर्म—अहिंसा तथा दया—उस की बुद्धि से उठते चले जारहे हैं। और इसी प्रकार की भावनाएं उस भोजन को खाने वाले मनुष्य की बुद्धि में भी जागृत हो उठेंगी, जो कि विद्यार्थी और अभ्यासी के लिये एक घातक शस्त्र सिद्ध होंगी। अतः सात्विक भावनाओं से प्राप्त किया हुआ भोजन ही उन्हें उपयोग में लाना चाहिये।

गुण-संग्रह का पांचवां स्रोत है "शिक्षा"। मनुष्य की बुद्धि का अधिक निर्माण शिक्षा के क्षेत्र में होता है। भारत के विद्यार्थी बहुधा कोई उद्देश्य सामने रख कर शिक्षा का

आरम्भ नहीं करते। माता-पिताओं के हृदय में भी उन की शिक्षा के उद्देश्य की रूप रेखा सर्वत्र देखने में नहीं आती। यदि कहीं शिक्षा के उद्देश्य का चुनाव देखने में भी आता है तो केवल रोटी। परन्तु उद्देश्य का यह चुनाव बुद्धि के विकास का साधन नहीं बन सकता। ऐसे चुनाव के अनन्तर बुद्धि केवल रोटी के क्षेत्र में ही घूमती रहेगी। और रोटी केवल जीवन-यात्रा के कार्य-क्रम को पूरा करने के एक साधन–शरीर की रक्षा–के लिये उपयोगी है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है, सांसारिक सुख को तथा मोक्ष के परम सुख को प्राप्त करना। अतः सांसारिक सुख को प्राप्त करने के साधन जुटाते समय उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा, कि ये साधन मेरे परम सुख की प्राप्ति पर तो कुठाराघात न करेंगे। और यह तब ही हो सकेगा, जब कि वह सांसारिक सुख के साधनों का संग्रह करते समय इस दृष्टि को लक्ष्य में रख कर चलेगा कि मेरी यह गति, किसी दूसरे पर आघात तो नहीं पहुंचा रही। परन्तु जिस मनुष्य ने अपनी शिक्षा का उद्देश्य केवल रोटी रक्खा है उस की दृष्टि का निर्माण इस लक्ष्य को सामने रख कर न होगा, क्योंकि उसे तो जिस प्रकार भी मिले रोटी चाहिये। परम सुख की प्राप्ति का लक्ष्य सामने आते ही हमारी दृष्टि बदल जाती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हमें भगवान् के सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी, वह सहयोग उस के गुणों के पुजारी हुए बिना हम प्राप्त न कर सकेंगे। और उन गुणों का ग्रहण बुद्धि में सात्विक भावनाओं के जागृत किये बिना नहीं हो सकता। फलतः विद्यार्थी को अपनी शिक्षा का

कार्य-क्रम भी ऐसा ही बनाना पड़ेगा, जो बुद्धि में सात्विक भावनाओं को जन्म देता हुआ उसे अपने परम उद्देश्य की ओर लेजाने में समर्थ हो।

बुद्धि में गुण-सन्निवेश का छठा स्रोत है "हमारा व्यावहारिक अथवा धार्मिक कार्य-क्रम"। जब हम कार्य-क्षेत्र में आकर खड़े होते हैं, चाहे वह सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक कैसा भी हो, एक एक पग पर वैमनस्य के दृश्य दिखाई देने लगते हैं। अर्थ की कामना को दबा भी दिया जावे फिर भी मान की कामना इतनी प्रबल है कि एक ही लक्ष्य को ध्यान में रख एक ही कार्य में लगे हुए दो सहयोगियों के दो विपरीत मार्ग बना देती है। हृदय-सागर में से प्रेम का जल सूखने लगता है और द्वेष की अग्नि भड़क उठती है। इस विषम अवस्था में कभी तो ऐसा ज्वारभाटा आता है कि धैर्य और स्थिरता का तल छलक उठता है। हृदय की इस उद्विग्न अवस्था में बुद्धि भी क्षोभ से चञ्चल हो उठती है, वह अपनी प्रधान शक्ति-विवेक-को खो बैठती है, और उस की निर्णय करने की शक्ति अब शिथिल होजाती है। अतः उन्नति के अभिलाषी छात्रों तथा अभ्यासी जनों को अपना कार्य-क्षेत्र चुनने से पहिले अवधान के प्रकाश में, अपने चारों ओर के वायुमण्डल को एक गम्भीर दृष्टि से देख अवश्य लेना चाहिये। अपनी बुद्धि के विकसाए हुए सत्वगुण की रक्षा को लक्ष्य में रख, सहयोगी कार्यकर्ताओं के चुनाव में चाहे उन्हें कितना ही अधिक समय क्यों न देना पड़े, उस का वह चुनाव विषम न होना चाहिये। और फिर किसी भी विचार-संघर्ष के अवसर पर

मनोमालिन्य के भूत को दूर रख तितिक्षा देवी के हाथ की शीतल छाया अन्तःकरण पर सदा पड़ने देनी चाहिये। इस प्रकार चलते रहने पर उन का कार्य-क्षेत्र क्षोभ की वायु के विषम झोंकों से बचा रहेगा, बुद्धि के सत्व को बल मिलेगा, और वे उस के प्रकाश में अपने कार्य-क्षेत्र की समस्याओं के सब निर्णय भली भांति कर सकेंगे।

हम बुद्धि में सत्वगुण को प्रधान और रजोगुण को गौण रखना चाहते हैं। इस के लिये हम ने उन सारे क्षेत्रों की पड़ताल करली है जहां से रजोगुण को बल मिलने की सम्भावना थी। परन्तु फिर भी हम संसार से बाहर निकल कर कहीं नहीं जा सकते। और संसार के वायुमण्डल में रजोगुण का चक्र स्थान स्थान पर चलता हुआ पाते हैं। अतः हम किसी भी स्थान पर इस के पञ्जे में फंस सकते हैं। इस के लिये आवश्यक है कि बुद्धि के क्षेत्र का प्रतिक्षण निरीक्षण हो।

हम पहिले लिख आये हैं कि बुद्धि के क्षेत्र के उस पार चैतन्य अथवा आत्मा का क्षेत्र है। और चैतन्य के प्रभाव को बुद्धि का क्षेत्र तत्काल ग्रहण करता है, इस की उपमा चन्द्रमा के द्वारा सूर्य के प्रकाश के ग्रहण से दी जा सकती है। महर्षि कपिल ने इस के लिये एक और दृष्टान्त देते हुए लिखा है :—

अन्तःकरणस्य तदुज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्।

सांख्य १।९९

अन्तःकरण चैतन्य से प्रकाशित होता है, अतः जैसे

लोहे के प्रदीप्त हो उठने का साधन अग्नि है, उसी प्रकार अन्तःकरण को चेतन करने वाला उस का अधिष्ठाता आत्मा है, और बुद्धि अन्तःकरण का ही एक भाग है। फलतः आत्मा का उस पर प्रभाव है। अतः आत्मा अपनी इच्छा-शक्ति के बल से बुद्धि के क्षेत्र का नियन्त्रण कर उसे रजोगुण के पञ्जे में फंसने से बचा सकता है। और यह तब ही सम्भव है जब कि आत्मा ने अपनी इच्छा-शक्ति को इन प्राकृतिक शक्तियों के पीछे चल इन का अनुवर्ती न बना लिया हो।

व्यवहार में बहुधा हम देखते हैं कि आत्मा कई बार अपनी आकांक्षा को दबा कर इन्द्रियों और मन के पीछे चल दिया करता है। और उस समय तो नहीं, परिणाम के समय उसे पता लगा करता है कि मेरी इन शक्तियों ने मुझे मेरे अनिच्छित स्थान पर ला खड़ा किया है। हमारे इस निर्देश का तात्पर्य यह है कि ऐसे पराधीन आत्मा की इच्छा-शक्ति बुद्धि के सत्व की रक्षा नहीं कर सकती। उस आत्मा ने अपने उच्च स्थान से उतर अपने छोटी श्रेणी के सहकारि-वर्ग के सामने सिर झुका दिया है। बुद्धि पर स्थापित अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये उसे इन शक्तियों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर इन के ऊपर भी अपना निरंकुश अनुशासन स्थिर रखना होगा। उसने अपना अधिकार उदासीन रहने के कारण खोया है। अब उसे प्रतिक्षण सावधान रह, उस उपेक्षा-रूप तमोगुण के पर्दे को उतार फैंकना होगा। अपने मन और इन्द्रियों की अहर्निश देख-भाल करनी होगी-कि ये किधर जारहे हैं, और ये जिधर जारहे हैं वह मेरे अनुकूल और मेरा इच्छित प्रदेश

है या नहीं। कई बार आत्मा के अनिच्छित मार्ग से जाता हुआ भी मन आत्मा को इस भूलभुलैयां में डालने की चेष्टा करेगा कि 'जिस मार्ग से मैं जारहा हूं, वह ही तेरा इच्छित मार्ग है'। बस ऐसे ही अवसरों पर आत्मा को उसे रोक, सावधान हो, धर्म-शास्त्रों, महापुरुषों की जीवनियों और तर्क-शास्त्र आदि विवेक की सामग्रियों का आश्रय ले व्यवस्था करनी होगी। और इस के अनन्तर ही अपने मन को उचित मार्ग का दिग्दर्शन करा, उसे उस मार्ग पर यात्रा करने के लिये प्रेरित करना होगा। महर्षि पतञ्जलि के :-

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। यो० १।३

और :-

वृत्ति-सारूप्यमितरत्र। यो० १।४

(तब आत्मा की स्वरूप में स्थिति होती है। और जगह वह वृत्तियों का स्वरूप धारण कर लेता है)। का यह ही तात्पर्य है।

भाव यह है कि आत्मा का नियन्त्रण जब चित्त पर दृढ़ होजाता है तो उस की स्थिति अपनी इच्छा के अनुकूल अपने स्वरूप में होती है, उस समय उस की अपनी शक्ति उस के हाथ में होती है, और उस का अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग कर सकता है। परन्तु जब वह चित्त के पीछे चल पड़ता है तो उस की शक्तियें गौण होकर, चित्त की वृत्तियों के रङ्ग में रंगी हुई, कार्य-क्षेत्र की ओर अग्रसर होती हैं, और उस समय वे अपनी स्वतन्त्रता तथा अपना महत्व दोनों खो बैठती हैं। उस समय आत्मा अपने उस

महत्त्वपूर्ण शक्ति-समाज से भी वञ्चित हो जाता है, जिस के कि बल पर वह बुद्धि का नियन्त्रण करता हुआ उस के सत्व की रक्षा करने में सफल हो सकता था। अतः आत्मा की इच्छा-शक्ति और उस की चैतन्य ज्योति को मन की विक्षेप-पूर्ण प्रकाश की झिलमिलाहट से बचा उसे स्वतन्त्र रखने की, अभ्यासी को, सर्वदा चेष्टा करनी चाहिये।

अब इतने विचार के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि–बुद्धि अपने ऊपर के क्षेत्र, शुद्ध चैतन्य के नियन्त्रण में आ "व्यवसायात्मक" (निश्चय करने वाली) बनती है। और जब कि वह चैतन्य उस के नीचे के क्षेत्र, मन और इन्द्रियों के स्वरूप से मिल कर तदाकार होजाता है तो इस रूप को धारण किये हुए इस चैतन्य के नियन्त्रण में आ, बुद्धि अपना वह निर्णायक स्वरूप खो बैठती है और मनुष्य के लिये उचित मार्ग का निर्धारण करने में असमर्थ होजाती है। मन तथा इन्द्रियों के विक्षिप्त रूप का आत्म-चैतन्य में मिश्रण होने के कारण, और बुद्धि के इस चित्रित चैतन्य से प्रभावित होने के कारण, अब बुद्धि के निर्णय एक ही विषय में, अनेक और विरुद्ध हुआ करते हैं, जिस का कि दिग्दर्शन गीता के इस श्लोक में कराया गया है :—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ गी. २।४१

हे अर्जुन! यहां निश्चयात्मक बुद्धि एक ही हुआ करती है। परन्तु अव्यवसायी अर्थात् निश्चय न कर सकने वाले लोगों की बुद्धियें अनेक और अनेक मार्गों में चलने

वाली होती हैं।

उस मनुष्य से बढ़ कर असफल मनुष्य और कौन होगा, जो अपनी जीवन-यात्रा के लिये कोई मार्ग ही निश्चित न कर सके। और जिस मनुष्य के पास निश्चय करने वाली बुद्धि नहीं उसे इस असफलता के गढ़े में अवश्य ही गिरना होगा। अतः मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह अपनी बुद्धि में, ऊपर लिखे उपायों से सत्वगुण को जगा, और उस के ऊपर आत्मा की इच्छा-शक्ति का प्रकाश डाल, उसे निर्णय करने के योग्य बनादे, जिस से कि उस के प्रकाश में चलता हुआ मनुष्य, अपने उद्देश्य को जाने वाले यथार्थ मार्ग का यात्री बन सके।

यहां तक हमने "इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा प्रकाश में आये हुए अनुभवों की समालोचना करना बुद्धि का काम है" यह बतलाने की चेष्टा की है, और इस समालोचना के द्वारा हम किसी यथार्थ निर्णय पर पहुंच सकें इस के लिये बुद्धि में सत्वगुण को जगाने की प्रेरणा की है। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि बुद्धि का केवल यह एक ही कार्य-क्षेत्र नहीं है, यह और भी कई स्थानों पर कार्य करती हुई देखी गई है। मनुष्य को अविद्या आदि क्लेशों के कीचड़ से खींच कर बाहर निकाल लेना भी बुद्धि देवी का ही काम है। हम अपने आप को (आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को) और अपने साथ सम्बन्ध रखने वाली, परिवार, भवन, भूमि, धन आदि सामग्री को नित्य समझे हुए हैं। चाहे हम यह कहते भी रहें कि यह सब जगत् बदल रहा है, नाशवान् है, परन्तु जिस समय कार्य-क्षेत्र में पहुंच हमारे व्यवहार की

ओर कोई दृष्टिपात करता है तो उसे यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि हम अपने आप को और इस सामग्री को नित्य मान रहे हैं। हम अपनी इस सामग्री से इतना घना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं कि उस के वियोग का कभी ध्यान भी नहीं आता, और इसी लिये हम अपना कार्य-क्रम इतना लम्बा बना लिया करते हैं कि जीवन के अन्तिम समय तक भी पूरा होने में नहीं आता। हमारे उस कार्य-क्रम का लक्ष्य, ऊपर गिनाई गई इस सामग्री के प्राप्ति, व्यय और वृद्धि ही हुआ करते हैं। इसी चक्र में पड़े हुए हम "मानव-जीवन का यथार्थ ध्येय क्या है?" इस विषय पर विचार करने में भी असमर्थ रहते हैं। कारण स्पष्ट है कि हमें इन सांसारिक प्रलोभनों के लिये बनाये हुए कार्य-क्रम से कभी अवसर ही नहीं मिलता, हमारे अन्तःकरण पर प्रभुत्व रखने वाली अविद्या का यह एक अङ्ग है। यदि हम यह निश्चय करलें कि "यह सब सामग्री अनित्य है, और अतएव इस के साथ हमारा सम्बन्ध कुछ काल के लिये ही है, वह तत्व और है जिस के साथ हमारा शाश्वत सम्बन्ध है", तो हमारा दृष्टिकोण ही बदल जावे, और इसी लिये हमें अपने कार्य-क्रम में भी कुछ परिवर्तन करने पड़ें। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि अन्तःकरण से अविद्या के इस पर्दे को हटाने और अपने दृष्टिकोण के बदलने के कार्य में बुद्धि के अतिरिक्त हमारा और कोई सहायक नहीं।

इसी प्रकार कितनी ही अपवित्र वस्तुओं को पवित्र, दुःख-दायक वस्तुओं को सुखदायक, और अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझ कर, हम किसी ऐसे कार्य-क्रम के स्रोत

में बह चला करते हैं जिस से पार होना कठिन होजाया करता है। अविद्या के इन तीन महास्रोतों में बहते हुए मनुष्य को, इन से निकाल कर बाहर खड़ा करना भी बुद्धि का ही काम है।

हम अपने आत्म-चैतन्य और शरीर, मन, इन्द्रिय आदि जड़-समुदाय में भेद नहीं किया करते, और इसी लिये इन में से किसी के विकार से अपने आप को विकारी समझ दुःख मानने लग जाया करते हैं। अविद्या से उत्पन्न हुई इस अभेद-भावना को अस्मिता कहते हैं। अपनी सम्बन्धित वस्तुओं के साथ अपना नित्य सम्बन्ध समझ कर ही हम इन से मोह करने लगा करते हैं, और इसी का नाम राग है। जब हम इन वस्तुओं को अपनी बनाना चाहा करते हैं, और ये हमारी न होकर दूसरे की होजाया करती हैं तो द्वेष का जन्म होता है, और इस के उत्पन्न होते ही हम कई प्रकार के झमेलों में फंस जाया करते हैं। "हमारा इस शरीर से कभी वियोग न हो" यह भावना अभिनिवेश के नाम से कही जाती है। इस से वियोग होने का कोई अवसर सामने आते ही हम अनेक चिन्ताओं में फंस दुखी होजाया करते हैं।

जिस प्रकार अविद्या नामक क्लेश से छुड़ाने का साधन बुद्धि है, इसी प्रकार ऊपर निर्दिष्ट किये गये अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चार क्लेशों से छूटने के लिये भी हमें बुद्धि का ही आश्रय लेना पड़ेगा। यह एक दूसरा क्षेत्र है जहां कार्य आरम्भ करने के बाद बुद्धि, मनुष्य के लिये अनेक हित-कारक अवस्थाओं को प्रकट कर सकती है।

बुद्धि में क्लेशों के बन्धनों को काटने की योग्यता उत्पन्न करने के लिये उसे साण पर चढ़ाना होगा। और वह साण विवेक की साण है। आत्मा क्या है? शरीर आदि प्रकृति-समाज क्या है?, इन का वास्तव में परस्पर क्या सम्बन्ध है? और इस सम्बन्ध से इस जीवन में मनुष्य अधिक से अधिक लाभ किस प्रकार उठा सकता है?; इन सब प्रश्नों पर धर्म-शास्त्रों तथा तर्क का आश्रय ले बार बार मनन करने पर; बुद्धि विवेक के योग्य बन जाती है। और विद्यार्थी तथा अभ्यासी, इस बुद्धि के प्रकाश में जीवन के कर्तव्य-मार्ग का निश्चय कर, क्लेशों के बन्धन से छूट, सन्तोष तथा धैर्य को प्राप्त कर, इस जीवन में भी आनन्द के मधुर फल का आस्वाद लेता है, और परलोक का भी मार्ग उज्ज्वल बना लेता है।

यद्यपि इन पांचों क्लेशों को भी चित्त पर पड़े हुए संस्कार कहा जासकता है, और बुद्धि के इस कार्य-क्षेत्र का विवेचन पहिले हो चुका है, इस लिये यह पुनरुक्ति समझी जासकती है, परन्तु ऐसा है नहीं। पहिले प्रकरण में चित्त पर इस समय के अनुभवों द्वारा पड़े हुए शुद्ध संस्कारों को दृढ़ करने का कार्य बुद्धि के अधिकार में दिया गया था। और इस प्रकरण में चित्त पर पड़ी हुई, अविवेक से प्रकट होकर स्थिर हुई हुई, क्लेश नामक जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं को, शिथिल कर उखाड़ देने का काम बुद्धि कर रही है। अतः बुद्धि के ये विभिन्न दो कार्य-क्षेत्र हैं, पुनरुक्ति नहीं है।

यदि बुद्धि को अपनी इच्छा-शक्ति से विवेक के कार्य में लगा, आत्मा इन क्लेशों से पिण्ड छुड़ाले, तो अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी कार्य-क्षेत्र में सफल हो सकता है। परन्तु क्लेशों के रहते हुए इस के कार्य-क्रम की सारी बाग-डोर उन के हाथ में रहती है। और जिस प्रकार नदी के अत्यन्त वेग वाले प्रवाह में बहते हुए जन्तु का नदी से बाहर निकलना कठिन होजाता है और उसे अपनी भी सुध नहीं रहती, ठीक यह ही दशा क्लेशों के प्रवाह में बहने वाले आत्मा की हुआ करती है। अब साधक समझ गये होंगे कि बुद्धि से इस कार्य-क्षेत्र में बलपूर्वक आगे बढ़ क्लेशों से छूटा हुआ मनुष्य कितने अलभ्य लाभ उठा सकता है।

ये दो उदाहरण हम ने वर्तमान और भूत वासना-चक्र पर बुद्धि का अधिकार स्थापित करने के लिये दिये। इस के अतिरिक्त अपने भविष्य के कार्य-क्रम को रुचिकर तथा महत्वपूर्ण बनाने के लिये भी बुद्धि हमारा सुयोग्य मार्ग-दर्शक सहायक है। अपने भविष्य के कार्य-क्रम को हम जितना ही अधिक बुद्धि के उज्ज्वल प्रकाश में निश्चित करने की चेष्टा करेंगे, उतना ही शीघ्र सफलता देवी के द्वार तक पहुंचने का हमें अवसर मिल सकेगा। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य परतन्त्रता की बेड़ियों से जकड़े हुए अपने देश के बन्धन काटना चाहता है। उसे अपने इस कार्य को आरम्भ करने से पहिले बन्धन के कारणों पर पूरा विचार करना होगा, अपनी निर्बलताओं पर पूर्णरूप से दृष्टि डालनी होगी, और इस के बाद उन कारणों तथा निर्बलताओं के दूर करने के साधन सोचने तथा संग्रह करने होंगे। इस प्रकार इस

भविष्य के कार्य-क्रम का सोचना और निश्चय करना बुद्धि का ही काम है। बुद्धि का यह तीसरा कार्य-क्षेत्र मानव-जीवन के सारे ही कार्य-क्रम को अपने अन्दर समेट लेता है; इस लिये जो हमारी सारी ही जीवन-चर्या की उत्तर दाता है उस बुद्धि देवी को सात्विक भावनाओं से भर हमें आगे बढ़ने के लिये सावधान होजाना चाहिये।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि हम यात्रा कर रहे हैं। मार्ग में बीहड़ जङ्गल है और घना अन्धकार है। यह यात्रा हमारी जीवन-यात्रा है, यह बीहड़ जङ्गल हमारे जीवन की उलझी हुई समस्याएं हैं। और इन समस्याओं को सुलझा न सकना ही हमारे सामने अज्ञान का घना अन्धकार है। भगवान् की कृपा से हमारे हाथ में बुद्धि का सुन्दर दीपक आगया है। इस के ऊपर चमकता हुआ सत्वगुण का सुन्दर शीशा लगा हुआ है। इस के अन्दर रजोगुण की दहकती हुई ज्वाला जल रही है। यह ज्वाला और यह शीशा दोनों मिल कर उस बीहड़ जङ्गल में हमें मार्ग दिखला रहे हैं। इस प्रकाश में हमें अपनी समस्याओं की उलझनें और उन के सुलझाने के उपाय दोनों ही स्पष्ट दिखाई दे रहे है।

यद्यपि हमें यह अच्छा सहायक मिल गया है, और हम ने सफलता से मार्ग पर आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारी इस रजोगुण की ज्योति में से निकल कर तमोगुण की स्याही शीशे को कभी भी मैला कर सकती है, और यह प्रकाश अन्धकार के रूप में बदल सकता है। अतः हमें यह यत्न करते रहना होगा कि इस ज्योति में यह स्याही उत्पन्न ही

न होने पावे। इस के लिये हमें दो उपाय करने होंगे। एक यह कि बाहर के वायु का प्रबल झोंका इस ज्योति को हिलाने न पावे। और दूसरा यह कि उस ज्योति के आस पास के छिद्रों से आकर उसे जीवन देने वाला मन्द मन्द वायु बन्द न होने पावे।

विद्यार्थी समझ गये होंगे कि बुद्धि की ज्योति को हिलाने वाला यह वायु का प्रबल झोंका विक्षेप है, जिस की कि उत्पत्ति अविवेक अथवा अज्ञान से हुई है। हम यदि बुद्धि को स्थिर करना और तमोगुण से बचाना चाहते हैं तो हमें अविवेक और अज्ञान का मुख बन्द करना पड़ेगा, और इस का उपाय है सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, सत्सङ्ग और सत्कर्मों का अभ्यास। ज्योति के आस पास के छिद्रों से आने वाला मन्द मन्द वायु, आत्मा की इच्छा-शक्ति है। यह कौन मान सकता है कि स्वामी के सजग हुए बिना सेवक सावधान रह सकेंगे। हमारी इस बुद्धि देवी का स्वामी चेतन आत्मा भी यद्यपि इस की पीठ पीछे सदा ही विद्यमान् रहता है। परन्तु भेद केवल इतना है कि यह कभी जाग रहा होता है और कभी सोजाता है। निश्चय ही जब यह जाग रहा होता है तो इस की इच्छा-शक्ति का मधुर मधुर वायु हमारी बुद्धि की ज्योति को जीवन-दान देता रहता है, और यह ज्योति तमोगुण के आक्रमण से बची रहती है। परन्तु इस की पलकें के झपकते ही, और इच्छा-शक्ति के मन्द पड़ते ही, ज्वाला और शीशा दोनों ही तमोगुण से भर जावेंगे, और दीपक हाथ में होते हुए भी हम उसी विकट मार्ग में अन्धकार में खड़े होंगे। अतः सफलता के

अभिलाषी यात्री के लिये आवश्यक है कि वह सावधान रहता हुआ अपनी इच्छा-शक्ति के प्रभाव से विक्षेप तथा अविवेक को दूर कर अपनी बुद्धि की ज्योति को स्थिर तथा उज्ज्वल बनाये रक्खे। हमें पूर्ण आशा है विद्यार्थी-गण तथा अभ्यासी सज्जन इस प्रकार इस मार्ग का अनुसरण कर अपनी जीवन-यात्रा को निष्कण्टक बनाने में पूर्णतया सफल होंगे। उन के सामने उन की बुद्धि का दीपक सदा अपने सात्विक प्रकाश से चमकता रहेगा।

प्रज्ञान-मन के सम्बन्ध में संक्षेप से जिन विषयों का वर्णन किया है, आशा है उस से पाठक लाभ उठावेंगे।

अब हम उस के, मन और इन्द्रियों के सहयोग से होने वाले एक और कार्य-क्रम का दिग्दर्शन करा, इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

जिस समय आत्मा किसी विषय को जानना चाहता है उस समय वह प्रज्ञान-मन अर्थात् बुद्धि को अपनी उस इच्छा से प्रेरित करता है, और बुद्धि दैवमन को उस कार्य का सम्पादन करने के लिये प्रेरणा करती है। दैवमन भी अपने सहकारी ज्ञान-इन्द्रियों को उस विषय का अनुभव करने की प्रेरणा करता है, और इन्द्रिय उस विषय का अनुभव कर उस की सूचनाएं बुद्धि के पास मस्तिष्क में भेज देते हैं। बुद्धि फिर यदि उस विषय के सम्बन्ध में और कुछ अधिक ज्ञातव्य होता है, तो दैवमन को, और अधिक एकाग्र हो उस विषय की अन्य विशेषताओं को जानने की प्रेरणा करती है। और यदि और कुछ ज्ञातव्य नहीं, और उस ज्ञान के बाद कुछ कर्म आरम्भ करने

की आवश्यकता होती है तो यक्षमन को कर्म करने के लिये प्रेरणा कर देती है, और वह अपने सहयोगी इन्द्रियों से वह कर्म कराना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार जहां किसी विषय का विवेचन अथवा निर्णय करना प्रज्ञान-मन का कार्य है, इस के साथ ही दैवमन और यक्षमन से काम लेना भी उस का कार्य है।

चेतस् मन

प्रज्ञान-मन के प्रकरण में हम ने बुद्धि का वर्णन किया है। इस प्रकरण में "चेतस्" का वर्णन किया जावेगा। चेतस् को दार्शनिक परिभाषा में "चित्त" कहते हैं। चित्त अन्तःकरण का वह भाग है, जिस पर दैवमन के क्षेत्र में हुए अनुभवों, और यक्षमन के क्षेत्र में होने वाले कर्मों के संस्कार अङ्कित रहते हैं।

हम पहिले लिख आये हैं कि अनुभव के बाद चित्त पर पड़े हुए संस्कारों का परीक्षण बुद्धि के द्वारा होता है। बुद्धि कभी मनन के रूप में और कभी निदिध्यासन के रूप में इन अनुभवों पर प्रकाश डाला करती है जिस से कि ये संस्कार परिपक्व होजाते हैं। और जब कि बुद्धि के बहुत से कार्य-क्रम का चित्त के साथ सम्बन्ध है तो चित्त का स्थान भी बुद्धि के साथ ही मस्तिष्क में होना चाहिये।

हमें पुराने अनुभवों का स्मरण चित्त पर पड़े हुए संस्कारों के आधार पर ही हुआ करता है। और स्मरण करते समय सर्वदा मस्तिष्क में फैले हुए ज्ञान-तन्तुओं से ही काम लिया करते हैं, इस लिये इस हेतु से भी चित्त का स्थान मस्तिष्क में ही होना चाहिये।

ज्ञानेन्द्रियों के सब अनुभव संस्कार के रूप में चित्त पर अङ्कित होते हैं, और ज्ञान-इन्द्रिय सब सिर के भाग

लगे हुए हैं, इस लिये चित्त का स्थान भी वहां ही होना चाहिये।

चित्त की व्याख्या रूप में इस तीसरे मन्त्र में यह वाक्य आया है, "अमृतं प्रजासु" (उत्पन्न होने वाली वृत्तियों में अमर)। तात्पर्य यह है कि चित्त में अनेक वृत्तियें अथवा ज्ञान उत्पन्न हो हो कर नष्ट होते रहते हैं। उन के नष्ट होने पर भी चित्त में उन का कुछ प्रभाव शेष रह जाता है, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। उन वृत्तियों की भांति ये संस्कार नष्ट नहीं होते, ये जन्म-जन्मान्तर में भी चित्त का ही अङ्ग बने रहते हैं, यदि विरोधि भावनाओं से आत्मा इन के उखाड़ने का यत्न न करे। और यह ही कारण है कि इन्हें यहां अमर कहा है। संस्कार और चित्त प्रायः एक तत्व सा ही बने हुए हैं अतः संस्कारों को अमर कहते हुए यहां चित्त को ही अमर कह दिया गया है। यद्यपि ये संस्कार भी प्रयत्न से नष्ट किये जा सकते हैं, इस लिये सदा रहने वाले नहीं हैं, तथापि इन की जननी वृत्तियों की अपेक्षा तो ये अमर हैं ही। क्योंकि वृत्तियें दो क्षण रह कर नष्ट हो जाती हैं, और ये जन्मान्तरों में भी रहते हैं। और इसी लिये इन्हें यहां अमर नाम दिया गया है।

अन्तःकरण का यह भाग प्रभु के इस विचित्र जगत् में अनोखी रचना है। हम इसे एक ऐसे कूप की उपमा दे सकते हैं जिस का जल अथाह है, और जिस में अनेक छोटे बड़े जन्तु निवास करते हैं। इस जल में किस किस स्थान पर कौन कौन से और कितने जन्तु हैं, हम इस का कुछ

पता नहीं लगा सकते। किसी समय कोई जन्तु अचानक ही पानी के ऊपर आजाता है तो हम उसे देख सका करते हैं, अन्यथा नहीं।

ठीक इसी प्रकार हमारे चित्त की गम्भीरता का भी कोई अन्त नहीं। जन्म जन्मान्तर के और इस जन्म के भी अनुभवों के संस्कार इस में किस किस स्थान पर पड़े हुए हैं, इस का हमें कोई ज्ञान नहीं। जब कोई संस्कार ऊपर आकर स्मृति के रूप में प्रकट होजाया करता है तब ही हम उसे जान सका करते हैं। गोता लगाने वाले लोग गहरे पानी में गोता लगा कर अपने काम का जन्तु निकाल लाते हैं। और इसी प्रकार किसी संस्कार को जगाने की इच्छा करने वाले लोग चित्त के गहरे पानी में ध्यान का गोता लगा अपने अभीष्ट संस्कार को जगाने में समर्थ होजाते हैं।

चित्त की आश्चर्यजनक रचना की ओर ध्यान दीजिये कि कोई संस्कार दूसरे संस्कार से न मिलने पाता है, और न एक दूसरे को दबा सकता है। जिसे निकालने की इच्छा करो वह अलग थलग अकेला ही निकल आता है, और हमें यत्न करने पर भी यह पता नहीं चलता कि यह चित्त के किस पटल से आया है। आत्मा को कुछ पता नहीं था कि वह संस्कार कहां है, उस ने केवल उस के पाने की इच्छा से ध्यान लगाया और वह ऊपर आगया। ध्यान की किस आंख ने उसे देखा और उस का कौन सा हाथ इसे पकड़ कर ऊपर ले आया इस का कुछ पता नहीं।

कई वार लम्बा ध्यान लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट संस्कार को पा नहीं सका करते। वार वार माथा टकोरने

पर भी उस की स्मृति नहीं हुआ करती। इस में कारण है अनुभव के काल में की गई हमारी अपनी उपेक्षा। हम ने अनुभव के समय उस के संस्कार को सावधान हो, स्वयं संभाल कर चित्त में रखने की चेष्टा नहीं की। वह हमारी उपेक्षा के कारण हमारे अज्ञान में ही चित्त के किसी कोने में जा बैठा है। और जब बात ऐसी है तो हमारा ध्यान उसे खोज कर निकालेगा भी तो कहां से? वस्तुतः ऐसे ही लोगों की स्मरण-शक्ति निर्बल होजाया करती है जो अनुभव के काल में उपेक्षा रखते हैं–अवधान से काम नहीं लिया करते। हमें अपने अनुभव को चित्त के अर्पण करते समय उसे यह कह देना चाहिये कि "मैं अपनी यह वस्तु तुम्हें दे रहा हूं. इसे संभाल कर रखना"। चित्त निश्चय ही उसे संभाल कर रक्खेगा, और यथा समय मांगने पर हमें दे देगा।

संस्कार को और अधिक प्रबल तथा शीघ्र जगने योग्य बनाने के लिये हम उसे चित्त के अर्पण करते समय किसी प्रसिद्ध संस्कार को साक्षी के रूप में साथ दे सकते हैं। जैसे कि हम अपने चित्त को, सुरक्षित रखने के लिये भ्रमर का संस्कार दे रहे हैं। भ्रमर को हम ने अब पहिली बार ही देखा है। इस से पहिले हम ने कमल के फूल को बाज़ार में बिकते हुए कई बार देखा है, और उसे भली भांति जानते हैं। यह प्रसिद्धि भी हम ने कई बार सुनी है कि भ्रमर कमल के फूल पर बैठा करता है। अब हम भ्रमर को चित्त के अर्पण करते समय कमल का फूल भी सामने खड़ा कर देंगे। स्मरण करते समय भ्रमर याद न भी आया तो कमल के फूल को याद कर लेना हमारे लिये कठिन न

न होगा। और इस के बाद तत्काल ही उस के साथी भ्रमर का याद आजाना सर्वथा सम्भव है।

यह हम ने एक दृष्टान्त दिया है। हमारे इस निर्देश का तात्पर्य यह है कि संस्कार को इस योग्य बनाने के लिये, कि हमें उस से स्मृति की इच्छा होते ही, वह चित्त के चाहे किसी भी पटल में हो, तत्काल प्रकट होसके, तो जहां हमें इस बात की आवश्यकता है कि आत्मा ज्ञान के समय उस के ऊपर अपनी इच्छा-शक्ति का पूरा प्रभाव डाल रहा हो, और जहां यह आवश्यक है कि दैवमन के अवधान के प्रकाश में हम बार बार भली भांति मनन की रीति से उस का परीक्षण करलें, इस के साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम उस का नाता, चित्त में पहिले से ही संभाल कर रक्खे हुए किसी प्रसिद्ध संस्कार के साथ जोड़ लें।

विद्यार्थी महोदय भली भांति जानते होंगे कि वे जब कोई पुस्तक आदि से अन्त तक पढ़ जाया करते हैं, और बार बार उस का मनन कर उसे स्मरण करने का यत्न किया करते हैं, तो उस पुस्तक के विषयों का अनुभव उन्हें जिस क्रम से हुआ है, और जिस क्रम से उस के संस्कार चित्त में संभाल कर रक्खे गये हैं, उसी क्रम से उन संस्कारों की लड़ी की लड़ी उन के चित्त रूपी दूध पर मक्खन की भांति तैरने लग जाती है, और उन्हें उस सारे ही पुस्तक का स्मरण सहसा होजाया करता है।

इसी प्रकार जब कोई वक्ता किसी विषय पर भाषण देने लगता है तो उस से प्रथम वह अपने भाषण के कुछ शीर्षक अपने चित्त में क्रम से संभाल कर रख देता है, और

फिर बोलते समय उस के बिना ढूंढे ही एक के बाद दूसरा शीर्षक अपने आप उस के सामने बिना कठिनाई के आता चला जाता है।

ठीक इसी प्रकार किन्हीं पुराने प्रसिद्ध संस्कारों की माला में पिरोये गये किसी नवीन अप्रसिद्ध संस्कार का भी उन के सहयोग से स्मरण हो आना सरल होजाया करता है।

महर्षि कणाद ने लिखा है कि :—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः।

वैशेषिक अ. ९, आ. २, सू. ६

आत्मा और मन के विशेष संयोग से और संस्कार से स्मरण होता है।

यहां 'मन' शब्द चित्त के अर्थों में आया है, यहां स्मरण के लिये कारण रूप से जहां संस्कार का नाम लिया गया है, उस के साथ ही आत्मा और मन के संयोग को भी स्मृति का कारण माना गया है। परन्तु आत्मा और मन का साधारण संयोग स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः यहां विशेष संयोग को स्मृति का कारण कहा है। संयोग की विशेषता यह ही है कि चित्त का वह प्रदेश आत्मा के सामने आवे जिस में स्मरण का उपयोगी संस्कार पड़ा हुआ है। और यह तब ही होसकता है कि जब आत्मा ने अपनी इच्छा-शक्ति के बल से अवधान के द्वारा प्रत्यक्ष के समय उसे चित्त के किसी कोने में संभाल कर स्थिर किया होगा।

हम ने चित्त का निवास-स्थान मस्तिष्क बतलाया है, इस का यह अर्थ नहीं कि चित्त एक छोटे से बिन्दु के समान

कोई पदार्थ है और मस्तिष्क के एक कोने में रहता है। इस इतने छोटे से पदार्थ में जन्म-जन्मान्तर के तथा इस जन्म के सहस्रों संस्कारों का समा जाना और पृथक् रूप से स्थिर रहना कैसे सम्भव है। अनुभवों के बार बार होने वाले आन्दोलन और उन के प्रभाव एक छोटे से स्थान पर पड़े हुए पहिले प्रभावों को स्थिर और अविरल कैसे रहने देंगे। अतः यह मानना पड़ेगा कि चित्त एक ऐसा विशाल भण्डार है, जिस में संस्कारों की विशाल सामग्री अविरल रूप से स्थान स्थान पर रक्खी हुई है। और इसी लिये हम ने इसे एक गम्भीर कूप की उपमा दी है।

चित्त के भण्डार का हमारे सारे शरीर से और उस के बाहर के आकाश मण्डल से भी सम्बन्ध होना चाहिये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब हम किसी दूसरे नगर की किसी वस्तु को जिसे कि हम ने पहिले कभी उसी नगर में देखा था, याद करना चाहा करते हैं, तो उस नगर का सारा का सारा चित्र हमारे मन के सामने आजाया करता है, और हम इसे उसी स्थान पर देख रहे होते हैं जहां कि यह नगर बसा हुआ है, और तब हमें वह वस्तु, जिसे कि हम याद करना चाहा करते हैं, याद आजाया करती है। स्मरण की यह प्रक्रिया हमारे चित्त के बाह्य सम्बन्ध को प्रकट कर रही है।

हम पहिले लिख आये हैं कि जिस तत्व से हमारे अन्तःकरण का निर्माण हुआ है, वह अब भी आकाश-मण्डल में सर्वत्र भरा हुआ है, स्मरण की इस प्रक्रिया में हम उसी के सहयोग से सफल हुआ करते हैं।

कभी कभी चित्त पर पड़े हुए गहरे प्रभाव की तरङ्गें कोसों दूर बैठे हुए किसी निकट सम्बन्धी दूसरे मनुष्य के चित्त को भी प्रभावित कर दिया करती हैं। ऐसे प्रभाव को प्रकट करने वाले ६-७ दृष्टान्त एक बार 'वैदिक-धर्म' में सात्वलेकर जी ने दिये थे, और अन्य भी कितने ही सज्जनों से उन के अपने अनुभव में आई हुई इस प्रकार की घटनाएं सुनी हैं। यहां हम एक अपने साथ बीती हुई घटना का उल्लेख पाठकों के परिचय के लिये करना चाहते हैं।

लग भग २५ वर्ष हुए मेरे पिता जी अतिसार के रोग से पीड़ित हो गये। वे अपने घर में ज़िला मेरठ में रोग-शय्या पर पड़े थे, और मैं उन दिनों गुरुकुल पोठोहार चोहा-भक्तां में कार्य करता था। मुझे घर गये चार पांच वर्ष हो गये थे। इन दिनों मेरे मन में बार बार यह भाव रह रह कर उठने लगा कि पिता जी से मिलना चाहिये। विशेष बात यह है कि इन चार पांच वर्षों में घर जाने की कोई भावना ही मन में जागृत नहीं हुई थी। चार पांच दिन के बाद तो मुझे इस भावना ने घर जाने के लिये विवश ही कर दिया, और मैं घर चला गया। वहां जाकर पता लगा कि जिस दिन से मेरे चित्त में ये भाव उठने लगे थे, उसी दिन से पिता जी ने मुझे बार बार याद करना आरम्भ किया था। मेरठ के एक ग्राम से चल कर ये भावनाओं की तरङ्गें रावलपिण्डी के एक ग्राम में बैठे हुए मेरे चित्त तक जिस तत्त्व के सहयोग से पहुंचीं उसे भी हम चित्त का एक भाग ही कह सकते हैं। चित्त के इस भाग का वर्णन हम धृति के प्रकरण में करेंगे। यहां केवल इतना बतला देना चाहते हैं कि प्रत्यक्षीकरण के

बाद होने वाली प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध बाहर के प्रदेश में विद्यमान् चित्त तत्व से भी है, और वह जिस प्रकार दो चित्तों के मध्य में सम्बन्धित होकर पूर्वोक्त अनुभवों में सहायक है, इसी प्रकार स्मृतियों में भी वह ही सहायक है। बहुत सम्भव है कि यह सर्वत्र फैला हुआ सहकारी तत्व हमारे चित्त का अङ्ग हो, और हमारे चित्त पर पड़े हुए वे संस्कार इस विशाल भण्डार में पहुंच जाते हों जिन्हें कि हम गम्भीर ध्यान से ढूंढ कर निकाला करते हैं।

कैवल्य-पाद के दशवें सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है।

पहिले वे इस विषय पर अन्यों का मत दिखलाते हुए लिखते हैं :—

घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकासिचित्तं शरीरपरिमाणाकारमित्यपरे प्रतिपन्नाः।

जिस प्रकार घड़े में रक्खे हुए दीपक का प्रकाश सिकुड़ कर घड़े जितना, और मकान में रक्खे हुए उसी दीपक का प्रकाश फैल कर मकान जितना होजाता है, इसी प्रकार छोटे अथवा बड़े शरीर में जाकर सिकुड़ता और फैलता हुआ चित्त, शरीर जितना बड़ा ही होजाता है। यह औरों का मत है।

आगे चल कर वे अपना मत दिखलाते हुए लिखते हैं :-

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य सङ्कोचविकासिनीत्याचार्यः।

चित्त तो व्यापक है, वह न सिकुड़ता है और न

फैलता है। उस की वृत्ति में संकोच और विकास होते हैं, अतः सिकुड़ना और फैलना वृत्ति का धर्म है चित्त का नहीं। यह आचार्यों ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार अपने आचार्य स्वयम्भू जी के मत को ही सिद्धान्त स्वीकार करते हुए महर्षि व्यास ने अपनी भी सम्मति इसी मत के साथ प्रकट की है। और इस मत को स्वीकार कर लेने पर हमारे चित्त का बाहर के प्रदेशों से भी सम्बन्ध अनायास ही सिद्ध होजाता है।

कई नवीन मनोविज्ञान के पण्डित, मस्तिष्क में काम करने वाले किसी विशेष ज्ञान-तन्तु-मण्डल को चित्त मानते हैं। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उस छोटे से ज्ञान-तन्तु-मण्डल में चित्त में होने वाले अनन्त संस्कारों का स्थान कहां? हां इस तन्तु-मण्डल को, चित्त में पड़े हुए संस्कारों को जगाने का साधन-एक विशेष प्रकार का आला-कह सकते हैं। चित्त तो सत्व, रज और तम के योग से बना हुआ एक विस्तृत तत्व है, जिस में कि इन गुणों की न्यूनता और अधिकता के कारण कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते है। यह चित्त ही संस्कारों का आधार है।

यदि चित्त को मस्तिष्क यन्त्र का ही भाग मान लिया जाये तो दूसरे जन्म में इस जन्म की वासनाओं का जो प्रादुर्भाव देखने में आता है उस का क्या समाधान होगा। क्योंकि यहां के मस्तिष्क का ज्ञान-तन्तु-मण्डल तो यहां ही समाप्त होजाता है, और उसे भस्म भी कर दिया जाता है, अतः मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तु-मण्डल को चित्त नहीं कह सकते।

चित्त में संस्कारों की उत्पत्ति का क्रम व्यास जी ने इस प्रकार माना है :—

तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते ।

योग. १।५ व्यास-भाष्य ।

इस प्रकार के संस्कार चित्त की वृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं, और इन वृत्तियों की उत्पत्ति संस्कारों से हुआ करती है । इस प्रकार वृत्तियों और संस्कारों का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

महर्षि व्यास के इस वक्तव्य के अनुसार अन्तःकरण की वृत्तियों की रचना संस्कारों के आधार पर होती है, और उन वृत्तियों से फिर वैसे ही संस्कार चित्त के ऊपर अङ्कित होते चले जाते हैं ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वृत्तियें संस्कारों के आधार पर ही बनती हैं तो मनुष्य के जीवन में कभी कोई परिवर्तन न आना चाहिये । जो संस्कार चित्त पर अङ्कित हो चुके अब उन के अनुसार ही वृत्तियें बनेंगी, और उन वृत्तियों के अनुसार वैसे ही और संस्कार चित्त पर अङ्कित होते चले जावेंगे अथवा उन वृत्तियों से वे ही संस्कार दृढ़ होते चले जावेंगे । और यदि बात ऐसी ही है तो मनुष्य के उत्थान के लिये धर्म-शास्त्रों तथा महापुरुषों के सब उपदेश निष्फल हैं । इस व्यवस्था के अनुसार तो वह जैसा एक बार बन गया वैसा ही सदा बना रहेगा ।

इस प्रश्न के उत्तर में हमारा वक्तव्य यह है कि मनुष्य सदा एक जैसा ही नहीं बना रहता, उस के पतन और उत्थान दोनों हुआ करते हैं। चित्त में वासनाओं के होते हुए भी ये दो प्रकार के परिवर्तन किस प्रकार हुआ करते हैं इस का विवेचन आगे पढ़िये।

यह सिद्धान्त है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और उन का फल प्राप्त करने में भगवान् के आधीन है। क्योंकि स्वतन्त्र होने पर ही वह अपने कर्म का उत्तर-दाता माना जासकता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह मानना पड़ता है कि अनादि काल से कर्म-क्षेत्र में उतरे हुए जीव को वासना या संस्कार भगवान् की ओर से बिरसे में नहीं मिले, ये सब इस की अपनी बनाई हुई वस्तुएं हैं। और जब कि जीव इन का निर्माण-कर्ता स्वयं है, तो इन में परिवर्तन करने का, और इन का विनाश करने का, दोनों ही अधिकार उसे स्वयं प्राप्त हैं।

अब विचार यह करना है कि इस चलते हुए वासना और वृत्ति के चक्र को मनुष्य किस प्रकार बन्द कर सकता है। इस विषय में महर्षि पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य किसी भी संस्कार को विरोधी भावना से निर्बल और नष्ट कर सकता है, और उस के स्थान पर उस के विरोधी संस्कार को अपने चित्त की भूमि में जन्म दे सकता है। जैसे कि चित्त में विक्षेप के संस्कारों का उदय होजाने पर उन के विनाश का उपाय बतलाते हुए उन्हों ने लिखा है :-

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। योग. पाद १ सूत्र ३२।

विक्षेप को रोकने के लिये एक तत्व का अभ्यास करो।

तात्पर्य स्पष्ट है कि चित्त में विक्षेप के संस्कारों का उदय होजाने पर उन के रोकने का उपाय किसी एक तत्व पर चित्त को एकाग्र करना है, और यह ही विरोधी भावना कहलाती है। जिज्ञासु जब यह यत्न करेगा कि उस के चित्त की वृत्ति में एक ही तत्व का भान हो–दूसरे तत्व पर उस की वृत्ति जाने ही न पावे, तो निरन्तर अभ्यास करने पर उस की वृत्ति एक तत्व पर टिकने लगेगी, और विक्षेप दूर होने लगेंगे।

इस प्रकार प्रयत्न करने पर मनुष्य विक्षेप के संस्कारों से छुटकारा पाकर स्थिति के संस्कार को अपने चित्त में जन्म दे सकेगा। यह ही मनुष्य के उत्थान की रीति है, इस के विपरीत चलने पर उस का पग पतन की ओर ही उठता रहेगा।

इसी प्रकार चित्त में "ऋतम्भरा प्रज्ञा" के उत्पन्न होने पर उन्हों ने लिखा है :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। योग. १।५०।

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार दूसरे संस्कारों को दबा देता है।

इस प्रकार महर्षि ने सत्य-ज्ञान से पूर्ण ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार-द्वारा, दूसरे संस्कारों का जिन की उत्पत्ति का आधार असत्य ज्ञान है, विनाश माना है।

इस प्रकार यद्यपि वृत्ति और संस्कार का चक्र चल रहा है, तथापि मनुष्य विपरीत भावना के द्वारा अपने चित्त

के इस चलते हुए प्रवाह को रोक कर अपनी गति का रुख जिस ओर चाहे फेर सकता है।

इस व्यवस्था को जानते हुए विद्यार्थियों को अब यह चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं कि उन के अन्दर जो निन्दित भावनाएं आ चुकी हैं वे दूर नहीं होसकतीं। वे एक बार यह अनुभव करलें, कि हमारे अन्दर ये दोष हैं, इस के बाद उन के दूर करने का निश्चय करलें, संग्राम आरम्भ करदें, और उन दोषों के विरोधी भावों को चित्त में स्थान देने लग जावें, तो कुछ काल के बाद ही वे देखेंगे कि उन के वे दोष निर्मूल होते चले जारहे हैं। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उन के जीवन-निर्माण का यह ही ढंग रहा है। और इस मार्ग पर चल कर कोई भी नवयुवक अपना नाम महापुरुषों की श्रेणी में लिखा सकता है।

यद्यपि इस मार्ग का निर्देश थोड़ी सी पंक्तियों में कर दिया गया है, और दो शब्दों में ही यह कह दिया गया है कि चित्त के किसी भी घृणित संस्कार को नष्ट करने के लिये इस की विरोधी भावनाएं उत्पन्न कर देनी चाहियें। परन्तु जब मनुष्य कार्य-क्षेत्र में आकर कार्य को आरम्भ करता है, इस की कठिनाइयों का पता तब लगता है। उस समय कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ने का अभिलाषी विद्यार्थी एक होगा, और कार्य में विघ्न डालने वाली अस्त्र-शस्त्रों से सजी हुई विरोधियों की सेनाएं अनेक सामने खड़ी होंगी। बाहर के विरोधियों की ओर तो दृष्टिपात करने की आवश्यकता बाद में पड़ेगी पहिले विद्यार्थी अपने चित्त में ही विरोधियों का दल खड़ा पावेगा। इस दल के व्यक्तियों का नाम-निर्देश

महर्षि पतञ्जलि ने अपने इस सूत्र में किया है :-

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । यो. १।३०

व्याधि (रोग), स्त्यान (शिथिलता), संशय, प्रमाद (जान बूझ कर साधनों का अनुष्ठान न करना), आलस्य, अविरति (विषयों में ग्लानि का न होना), भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), अलब्ध-भूमिकत्व (साधनों का अनुष्ठान करने पर भी लक्ष्य का अथवा भूमियों का प्राप्त न होना), अनवस्थित्व (लक्ष्य अथवा भूमि के प्राप्त होजाने पर भी चित्त का वहां स्थिर न रहना), यह नौ विघ्नों की सेना है, जो कि चित्त में विक्षेप को उत्पन्न कर विद्यार्थी अथवा अभ्यासी के मार्ग में प्रतिबन्धक होती है।

जो लोग इन विघ्नों को दूर कर अपने मार्ग को निष्कण्टक बना लेते हैं वे ही संसार में विजयी महापुरुष बना करते हैं। इन विघ्नों से बचने के उपायों पर हम कुछ प्रकाश इन आगे की पंक्तियों में डालने की चेष्टा करेंगे।

व्याधि

शरीर को रोगों से बचाना मनुष्य-जीवन की सफलता में मुख्य साधन है। जिस विद्यार्थी अथवा योगी का शरीर व्याधियों से पीड़ित रहेगा, उस का चित्त सदा विक्षिप्त रहेगा, और अतएव वह अपने लक्ष्य तक पहुंचने में असफल रहेगा। शरीर को रोगों से बचाने के लिये, योगिराज कृष्ण का निम्न उपदेश रामबाण है :—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ गी. ६।१७

जिस मनुष्य के भोजन, भ्रमण आदि व्यायाम, कर्म करने के लिये प्रयत्न और सोना तथा जागना उचित मात्रा में चलते हों, कर्म-योग उस के दुःखों का नाश कर देता है।

इस श्लोक में जिन नियमों का उपदेश दिया गया है, यद्यपि वे मनुष्य मात्र के लिये सब अवस्थाओं में लाभ-दायक हैं, परन्तु विद्यार्थी और अभ्यासी के लिये तो ये नियम परम औषध हैं।

नियमित भोजन जहां शरीर को नीरोग रखने का एक परम साधन है, इस के साथ ही वह शरीर में अधिक और शीघ्र कार्य करने की योग्यता को भी जन्म देता है। आहार के नियम से भोजन समय पर पचता है, शरीर हलका रहता है, काम करने को मन चाहता है और चित्त अशान्त नहीं रहता।

कई महानुभाव भोजन तो नित्य कर लेते हैं परन्तु उन के कार्य-क्रम में, भ्रमण, व्यायाम और क्रीड़ा के लिये कोई स्थान नहीं होता। उन की प्राण-शक्ति निर्बल होजाती है, और अपनी इस विहार की उपेक्षा से वे नित्य रोगों को निमन्त्रण देरहे होते हैं। जिस प्रकार नियमित भोजन का शरीर की बल-वृद्धि पर उत्तम प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार नियमित विहार का प्राण-शक्ति को उन्नत करने में बड़ा हाथ है। प्राण-शक्ति के उन्नत होने पर मनुष्य की कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है, और वह अपने सामने आये हुए किसी

भी कार्य-क्रम को सुचारु रूप से चला सकता है। हमारे विद्यार्थी कई प्रकार के विपरीत विहारों में फंस इस प्राण-शक्ति को, उन्नत करने की अपेक्षा निर्बल करना आरम्भ कर देते हैं। उन की क्रीड़ाओं में कई बार ऐसी अश्लील हंसी-ठट्ठे की बातें और गालियां, देखने और सुनने में आती हैं, जो सदाचार को भयङ्कर चोट पहुंचा, उन की प्राण-शक्ति को निर्बल करती रहती हैं। वे यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि हम ने अपनी नौका, पार होने के लिये मँजधार में छोड़ी हुई है, और उस में छेद कर रहे हैं। यह ही कारण है कि आज का विहार चरित्र-गठन के स्थान पर चरित्र-पतन का कारण बन रहा है। हम इस बात से सर्वथा सहमत हैं कि विद्यार्थियों के विहार में मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री होनी चाहिये। मनोविनोद के बिना शरीर का कमल खिलेगा नहीं और इस के बिना प्राण-शक्ति को बल मिलना कठिन है। परन्तु हम यह कभी स्वीकार न करेंगे कि विद्यार्थी अपने मनोविनोद की सामग्री में काम-वासनाओं को उत्ते-जित करने वाले अश्लील नृत्य, गान और हंसी ठट्ठे को सम्मिलित कर दें। ऐसे विहार का परिणाम बल का पतन होगा न कि उत्थान।

कर्म करने के लिये भी आगे बढ़ते समय विद्यार्थियों को युक्ति से काम लेना चाहिये। वे कभी तो आधा आधा दिन बातों में ही बिता दिया करते हैं, और कभी जब काम करने लगते हैं तो रात के तीन बजे तक पढ़ते ही चले जाते हैं। इस नियम-भङ्ग के बदले में वे रोग खरीद लेते हैं, और अपने चित्त को अशान्ति के गहरे गढ़े में फेंक देते हैं। कर्म

का अनुष्ठान यद्यपि मनुष्य के लिये अत्यन्त हितकारक है, परन्तु मर्यादा को उलंघ जाने के बाद उत्तम से उत्तम वस्तु भी निकृष्ट बन जाया करती है। खीर एक मधुर और सात्विक भोजन है, परन्तु अधिक खालेने पर वह भी विष बन जाया करती है। योगिराज कृष्ण का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कर्म का व्यापार, युक्त होना चाहिये, उचित मात्रा में होना चाहिये और नियम-पूर्वक होना चाहिये। तब ही उस का शरीर नीरोग और चित्त शान्त रह सकता है।

सोने और जागने का नियम भी मनुष्य के शरीर को नीरोग रखने का एक उत्तम साधन है। विद्यार्थी को दश बजे सोकर ठीक चार बजे उठ जाना चाहिये, और फिर इस नियम को कभी तोड़ना न चाहिये। हम जैसा नियम चालू कर देते हैं हमारा धृतिमन, हमारे प्राण-तन्तुओं को उसी दिशा में चलाना आरम्भ कर देता है, और जब हमारा सोने का समय आता है तो प्राण-तन्तु कर्म के लिये धारण किये हुए वेग को छोड़ कर शिथिल होना आरम्भ कर देते हैं। जिस दिन हम सोने के नियत समय के बाद भी घण्टों जागते रह जाते हैं, तो हमारी यह चेष्टा हमारे प्राण-तन्तुओं की क्रिया के विपरीत होती है, और उन के ऊपर हमारे इस व्यवहार से प्रबल आघात पहुंचता है जिस से कि शरीर रोगी तथा निर्बल होना आरम्भ होजाता है। हमारी यह चेष्टा ऐसी ही है जैसे कि एक मनुष्य ने किवाड़ को बन्द करने के लिये धक्का दिया हो, और दूसरा उसे खोलने के लिये धक्का लगादे। इस का फल यह होगा कि किवाड़ों के अङ्ग ढीले पड़ने लग जावेंगे, और वे अपनी आयु से पहिले ही

टूट जावेंगे। ठीक यह ही दशा हमारे शरीर की भी है। इस लिये सोना और जागना दोनों ही नियम से चलने चाहियें, तब ही हम रोगों से और उन से उत्पन्न हुए विक्षेप से बच सकते हैं।

स्त्यान

कभी कभी हमारा चित्त इतना ढीला पड़ जाता है कि काम करने के लिये आगे बढ़ना ही नहीं चाहता, चित्त की इसी अवस्था को 'स्त्यान' कहते हैं। यह एक संस्कार है जो कि हम ने निकम्मे रह रह कर चित्त में उत्पन्न किया है। यह संस्कार भी विद्यार्थी और अभ्यासी के मार्ग में प्रबल चट्टान बन कर खड़ा होजाता है। इस पर विजय पाने के लिये उन्हें अपनी सोई हुई शक्ति को जगाना होगा। और इस के लिये अपने चित्त में, प्रस्तुत कार्य के लिये उत्कण्ठा और श्रद्धा की भावना उत्पन्न करनी होगी, काम में जुट जाने पर प्राप्त होने वाले फल का मनोरञ्जक चित्र उस के सामने खींचना होगा, और कर्म-शील, यशस्वी और सफल महा-पुरुषों के इतिहास उसे सुनाने होंगे। इस प्रकार प्रयत्न करने से चित्त की भूमि में से स्त्यान के पेड़ की जड़ उखड़ जावेगी, और फिर उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि इस का अंकुर वहां कभी उगने और पनपने न पावे। अन्यथा कार्य-क्षेत्र में प्रकट हुई असफलता के गर्भ से उत्पन्न हुए विक्षेप का शान्त करना उन के लिये कठिन होगा।

संशय

जब हम किसी कार्य को आरम्भ करना चाहा करते

हैं तो उस के फल और उपाय के सम्बन्ध में दो सन्दिग्ध भावनाएं हमारे चित्त के सामने आ खड़ी हुआ करती हैं। एक यह कि हमें इस कर्म का यह फल मिलेगा या नहीं, और दूसरी यह कि ये साधन हमारी इष्ट सिद्धि के लिये लाभ-दायक हैं या नहीं। इन सन्दिग्ध भावनाओं का निर्णय हम कर नहीं सका करते, और इस के फलस्वरूप हमारा चित्त इस संशय के अथाह जल में गोते खाने लग जाया करता है कि "इस कार्य को करें या न करें"। इस प्रकार की अवस्थाएं प्रत्येक मनुष्य के सामने उस के जीवन में कई बार आया करती हैं। अर्जुन जैसे कर्म-वीर योद्धा के सामने भी महाभारत-सङ्ग्राम के आरम्भ में इसी प्रकार का धर्म-सङ्कट उपस्थित होगया था। वह भी इस चिन्ता में पड़ गया था कि "लड़ूं या न लड़ूं"। जो लोग ऐसे अवसरों पर, धर्म, नीति और तर्क शास्त्रों, तथा आप्त पुरुषों की सहायता से तत्काल ही किसी निर्णय पर पहुंच, कार्य आरम्भ कर दिया करते हैं, और फिर कितने ही विघ्नों के आने पर भी अपने निश्चय पर अटल रहते हुए कार्य करते चले जाया करते हैं, सफलता का प्राप्त करना उन के बाएं हाथ का खेल हुआ करता है। परन्तु जो लोग किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ रहते हैं, "संशयात्मा विनश्यति" (जो लोग संशय में पड़े रहते हैं, वे नष्ट होजाया करते हैं) इस नीति-वचन के अनुसार उन के भाग्य में पराजय ही लिखी होती है। ऐसे लोगों के चित्त में रह रह कर एक के बाद दूसरी विक्षेप की तरङ्ग उठती रहती है। अतः विक्षेप से बचने के अभिलाषी विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को अपने

कर्तव्य-पथ का, ऊपर लिखे साधनों से निश्चय कर, चित्त में उत्पन्न हुए संशय के अंकुर को तत्काल ही उखाड़ देना चाहिये।

प्रमाद

अपने कर्तव्य-पथ और उस के लाभ को जान कर भी जो लोग कार्य को आरम्भ नहीं करते, कई बार यह निश्चय करते हैं कि 'कल करेंगे' और 'कल' आने पर फिर भूल जाते हैं, वे प्रमाद के जाल में फंसे हुए हैं। 'प्रमाद' चित्त में बैठा हुआ एक संस्कार है, जो कि मनुष्य को बार बार भूल-भुलैयां में डालता रहता है। यद्यपि मनुष्य के चित्त में यह कहीं बाहर से नहीं आया, उस ने स्वयं ही इसे पैदा किया और स्वयं ही पाल पोस कर ऐसा प्रबल बना दिया है, कि अब वह उस के सिर पर सवार है। कई बार वह जिस कार्य को करना चाहता है भूल ही जाया करता है, परन्तु कई बार समय पर याद आ भी जाता है तो "कल कर लेंगे" यह कह कर टाल दिया करता है। वह अपने कार्य के महत्व को जानता है, और उस के समय पर न करने के कारण, जिस हानि का उसे सामना करना पड़ेगा, उसे भी भली भांति जानता है, अपनी इस भूल के कारण बाद में वह अपने ऊपर चिढ़ता भी है, और इसी लिये चित्त के विक्षिप्त रहने से कोई और साधन सोचने में भी असमर्थ रहता है, परन्तु फिर भी चित्त पर दृढ़ आसन जमा कर बैठा हुआ यह संस्कार समय आने पर उसे भूलने के लिये विवश कर ही दिया करता है।

विद्यार्थी इस बात को भली भांति जानते हैं कि पाठ पढ़ने के बाद उसे याद करने के समय वे कई बार किसी मनोविनोद में लग जाया करते हैं, और पाठ याद करने का विचार उठने पर यह कह छोड़ा करते हैं कि "चलो कल याद कर लेंगे" वे उस समय यह सोचने का कष्ट नहीं किया करते कि यदि आज का पाठ कल कर लेंगे तो कल का कब याद करेंगे ? । हमारे इस समय का कितना मूल्य है— यह बात भी उन्हें उस समय भूल जाया करती है। इस बात पर भी वे ध्यान नहीं दिया करते कि अपने इस विपरीत कर्म से हम आज के पाठ से तो हाथ धो ही बैठेंगे, इस के साथ ही अपने प्रमाद के संस्कार को एक बार और पुष्ट करते हुए अपने भविष्य को और भी अधिक अन्धकार-मय बना लेंगे।

सफलता के अभिलाषी विद्यार्थी को उस के कार्य-क्षेत्र का मार्ग रोक कर खड़ी हुई प्रमाद की इस दीवार को तोड़ कर आगे बढ़ना होगा। आज के काम को कल पर छोड़ने का उपदेश करने वाली चित्त-वृत्ति को, उसे "आज का काम आज नहीं, अब ही कर के श्वास लेंगे" इस वृत्ति को चित्त में जन्म देकर, कुचल डालना होगा। इस में कोई सन्देह नहीं कि इस समय प्रमाद की वृत्ति से उसे घोर सङ्ग्राम करना होगा, परन्तु जिस विद्यार्थी के हाथ में 'अटल धारणा' और कर्म-वीरता की दुधारी तलवार है, उस का इस सङ्ग्राम में विजय पाना कोई कठिन बात नहीं। अपनी इस विजय के बाद विद्यार्थी देखेगा कि उस का चित्त, प्रमाद और उस की सन्तान अकर्मण्यता तथा विक्षेप की आंधी से मुक्त है

और शान्त है।

आलस्य

आलस्य और स्त्यान में अन्तर है। शरीर के हाथ पैर आदि अङ्ग तो काम करने के योग्य हों, परन्तु चित्त के ऊपर अकर्मण्यता की घटा छाई हुई हो, चित्त की उस अवस्था को 'स्त्यान' कहते हैं, और जब स्त्यान के इस संस्कार का प्रभाव हाथ पैर आदि शरीर के अन्य अङ्गों पर भी पड़ चुका हो, और उनको भी हिलाने को मन न चाहे, चित्तकी अकर्मण्यता की इस पराकाष्ठा को 'आलस्य' कहते हैं। जो मनुष्य चाहता हुआ भी अपने अङ्गों को न हिला सके, उस कीइस विवशता से तो उस की मृत्यु भली। जब वह कार्य-क्षेत्र में दौड़ते हुए और एक के बाद दूसरी सफलता को झोली में डालते हुए, दूसरे कर्म-शील लोगों को आगे बढ़ता हुआ देखता है, और अपने आप को रीते हाथ उसी स्थान पर खड़ा पाता है तो उस समय उस के क्षोभ और विक्षेप की उठी हुई लहरें उस की चित्त-नदी के दोनों किनारों को स्पर्श कर रही होती हैं।

स्त्यान को दूर करने के जो उपाय हम पहिले बतला आये हैं लग भग उन्हीं उपायों से विद्यार्थी आलस्य को भी निर्मूल कर सकेंगे। उन उपायों से चित्त में कर्म-परायणता के संस्कार का उदय होते ही शरीर के अङ्गों में से आलस्य अपने आप ही दूर होजावेगा।

अविरति

चित्त में प्रतिष्ठित हुई हुई विषयों की लालसा उसे एक स्थान पर कभी भी ठहरने नहीं देती। विक्षेप को जन्म देने

वाले विघ्नों में से इस का आसन सब से ऊंचा है, इसी लिये इस का नाम 'अविरति' (विश्राम न मिलना) रक्खा गया है । चित्त के इस संस्कार का निर्बल करना, विद्यार्थी, अभ्यासी तथा प्रत्येक संसारी के जीवन की जटिल समस्या है। चित्त के एक स्थान पर ठहरे बिना, किसी भी मनुष्य के लिये, किसी भी निश्चित किये हुए साध्य को लक्ष्य में रख कर, साधनों का निश्चय करना, और उन का उस साध्य के लिये उचित समय पर उचित मात्रा में उपयोग करना कठिन है। क्योंकि विषयों की लालसा से चित्त में उत्पन्न हुई हुई चञ्चलता, उसे इस विषय में कुछ सोचने के लिये एक स्थान पर ठहरने ही न देगी। और यदि मनुष्य ऐसा न कर सका तो उस के जीवन की नौका सदा डोलती ही रहेगी-उस का किसी एक किनारे लगना कठिन है। चित्त की इस वृत्ति को निर्बल करने के लिये मन के अन्दर बार बार उठने वाली विषय लालसा की तरङ्ग को बन्द करना होगा। इस लालसा की अग्नि में इन्द्रियों के द्वारा विषय-भोग का जितना घी डालते जावेंगे, यह उतनी ही अधिक भड़कती जावेगी। लालसा की इस अग्नि का चित्र एक संस्कृत के कवि ने कैसा वास्तविक खींचा है। वह लिखता है :-

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धोयाति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥

शरीर जीर्ण होगया, बाल सफ़ेद होगये, मुंह में दांत नहीं रहे, बूढ़ा होगया और लाठी पकड़ कर चलता है: परन्तु फिर भी लालसा से छुटकारा नहीं मिलता।

हमारे इस लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं का सर्वथा ही अन्त करदे। जिस मनुष्य के सामने पूरो करने के लिये कोई कामना ही नहीं, उस के जीवन को तो ऐसी नौका की उपमा दी जासकती है, जिसे ऐसे स्थान पर पानी में छोड़ दिया गया हो, जिस के पार लगने के लिये सामने कोई किनारा नहीं। यदि मनुष्य के सामने पूरी करने के लिये कोई कामना न होगी तो कार्य-क्रम किस आधार पर बनेगा, और कर्म करने के लिये उस का पग आगे किस ओर बढ़ेगा। इस लिये हम कामना का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहते। हम कामना के उस रूप को छोड़ने की प्रेरणा कर रहे हैं, जिस ने लालसा का विकराल रूप धारण कर लिया है। योगिराज कृष्ण ने इस का वर्णन करते हुए इसे "महाशनो महापाप्मा" (बहुत खाने वाला महा पापी) कहा है। ऐसी कामना मनुष्य को जीवन भर भी चैन कहां लेने देगी जिस का पेट भरने की कभी सम्भावना ही नहीं, और इसे ही 'अविरति' की जननी कहते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जिस लक्ष्य को सिद्ध करना चाहता है, उसे पूरा करने की कामना तो उस के मन में उठनी ही चाहिये, इस के बिना तो उस के कर्म-क्षेत्र का निर्माण ही असम्भव है। हां मनुष्य के चित्त में ऐसी भूमिकाओं का प्रादुर्भाव भी सम्भव है, जहां पहुंच कर उस के कर्म-क्षेत्र का निर्माण कामना के आधार पर नहीं कर्तव्य-बुद्धि के आधार पर होता है, जिस भूमिका के लिये कृष्ण भगवान् ने लिखा है :—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्प वर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ गी. ४।१९

जिस के सब प्रयत्न, कामना और सङ्कल्प के बिना, कर्तव्य-बुद्धि से हो रहे हैं, उस के कर्म को अर्थात् कर्म की अग्रसर फल-कामना को, ज्ञान की अग्नि ने जला दिया है; और अत एव विद्वान् लोग उसे पण्डित कहते हैं।

परन्तु हम इस प्रसङ्ग में, उस सर्वोत्तम भूमिका में विचरने वाले योग-युक्त महापुरुष की स्थिति पर विचार नहीं कर रहे, हम तो यहां ज्ञानामृत के पिपासु विद्यार्थियों, और आनन्दामृत के अभिलाषी योग-मार्ग में प्रवृत्त होने वाले छात्र-वर्ग को लक्ष्य में रख कर यह कहना चाहते हैं, कि यदि वे सफलता-देवी का मुख देखना चाहते हैं, तो उन्हें किसी लक्ष्य को ध्यान में रख लेना चाहिये; और फिर अपनी कामना का क्षेत्र इतना सीमित कर देना चाहिये, कि वे पूर्ण न होने वाली अनन्त कामनाओं के चक्र पर चढ़े हुए, अविरति के जाल में फंस कर विक्षेप का ग्रास न बनें। यह निर्देश करने के बाद योग-के विद्यार्थी से हम यह निवेदन किये बिना भी न रहेंगे, कि उसे अपना लक्ष्य-विन्दु, अपने चित्त की उस भूमिका को अवश्य बनाये रखना चाहिये, जहां पहुंच कर वह अपनी कर्म-शृङ्खला की सञ्चालक कामना को पदच्युत कर, उस के स्थान पर कर्तव्य बुद्धि का अभिषेक कर सके। हमारे कथन का प्रयोजन यह है कि वह निष्काम कर्म की ओर टकटकी लगा कर आगे बढ़ता चले।

भ्रान्तिदर्शन

मनुष्य जब अवधान से काम लेकर द्रष्टव्य विषय की गहराई तक पहुंचने की चेष्टा नहीं करता, और न बुद्धि के प्रयोग से विचार की साण पर चढ़ा कर उस के सब अंशों को चमकाने का यत्न करता है, ऐसी अवस्था में उस के सब अनुभव अस्पष्ट होने लगते हैं, और उस के ज्ञान का प्रकाश धुंधला होता चला जाता है। इस प्रकार के अज्ञान-काल में किसी कार्य-सिद्धि के लिये निर्णीत किये हुए उस के साधन कई बार उपयोगी सिद्ध नहीं होते, और अत एव उसे बार बार कार्य-क्षेत्र में असफल हो निराश होना पड़ता है। मनुष्य की जीवन-यात्रा में बार बार आई हुई निराशा की ये आंधियां उसे पीछे धकेल देती हैं, और इसी लिये उस के चित्त में उठी हुई विक्षेप की एक तरङ्ग शान्त होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है।

विद्यार्थी चाहेंगे कि विक्षेप के जन्म-दाता इस भ्रान्ति-दर्शन से हमारा पिण्ड छूटे। और हम उन्हें एक मार्ग-दर्शक के नाते यह कहेंगे कि इस रोग का उपचार उन के अपने हाथ में है। ज्ञान के समय विषय के पूरे अन्वेषण के लिये उपेक्षा कर अपने ज्ञान के प्रकाश को उन्हों ने स्वयं धुंधला बनाया है, जिस से कि इस भ्रान्तिदर्शन अथवा मिथ्यादृष्टि को जन्म मिला है। और अब सावधान हो उस उपेक्षा-वृत्ति का अन्त कर अपने ज्ञान अथवा बुद्धि को ऋतम्भरा अर्थात् सत्य का प्रकाश करने वाली बनाना भी उन के ही हाथ का काम है। महापुरुषों के उपदेश और स्वाध्याय उसे हाथ

पकड़ कर मार्ग पर खड़ा कर सकते हैं, और महर्षियों के प्रशान्त और सफल जीवन उसे प्रकाश-स्तम्भ का काम दे सकते हैं, परन्तु यह निश्चित है कि सावधान होकर मार्ग पर चलना उसे स्वयं ही पड़ेगा। जिन सहायक शक्तियों का हमने ऊपर नाम लिया है उन का सहयोग प्राप्त करना भी उस के अपने पुरुषार्थ का काम होगा। जिस मनुष्य ने अपने अङ्ग ढीले छोड़ दिये हों, उसे उठा कर खड़ा भी कर दिया गया तो वह फिर गिर पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य आत्माभिमान और पुरुषार्थ को तिलाञ्जलि दे, अपने आप को निर्बल बना चुका है, उसे उठा कर खड़ा कर देना संसार की किसी शक्ति का काम नहीं। अतः उज्ज्वल ज्ञान के अभिलाषी मनुष्य को अपने ज्ञान के सब साधन तपश्चर्या और पुरुषार्थ से सत्व-प्रधान और स्वच्छ बनाने होंगे। उसे सावधान हो, अपनी खोई हुई मन और इन्द्रियों की शक्ति को फिर प्राप्त करना होगा; और फिर वह देखेगा कि उस के ज्ञान के क्षेत्र से भ्रान्तिदर्शन विस्तरा-बोरिया बांध कर भागा जारहा है, और उस का चित्त विक्षेप की आंधी से छुटकारा पा प्रशान्त हो निश्चल होता चला जारहा है।

अलब्धभूमिकत्व

मनुष्य चित्त की जिस भूमि को प्राप्त करना चाहता है उस के न मिलने पर भी उस के चित्त में विक्षेप उत्पन्न होजाता है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पांच भूमियें हैं। जिस भूमि में चित्त कभी स्थिर होता ही नहीं उसे क्षिप्त कहते हैं, जिस में रजोगुण की प्रधानता

के कारण चित्त में अंधेरा ही छाया रहता है उसे मूढ भूमि कहते है और जिस भूमि में चञ्चल चित्त में कभी किसी समय ही स्थिरता होती हो उसे विक्षिप्त भूमि कहते हैं। ये तीनों भूमियें न तो विद्यार्थी के काम की हैं और न अभ्यासी के। जिस भूमि में सब वृत्तियों का निरोध होकर केवल संस्कार शेष रह जावें उसे निरुद्ध भूमि कहते हैं, चित्त की यह भूमि उच्चकोटि के योगी के अधिकार की चीज़ है, अतः विद्यार्थियों और साधारण अभ्यासियों की यहां तक पहुंच नहीं। जिस भूमि में चित्त किसी एक विषय पर स्थिर होजावे उसे एकाग्र भूमि कहते हैं। विद्यार्थी, साधारण संसारी और अभ्यासी सब ही चित्त की इस भूमि तक पहुंचना चाहते हैं। क्योंकि बिना चित्त के एकाग्र हुए किसी का भी काम नहीं चलता। परन्तु जब यत्न करने पर भी मनुष्य इस भूमि तक पहुंच नहीं पाता तो उस के चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है, और यह ही विक्षेप है।

एकाग्र भूमि को प्राप्त करने और इस विक्षेप का दमन करने के लिये विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को अष्टाङ्ग योग का आश्रय लेना चाहिये, जिस का कि वर्णन इसी पुस्तक में प्रसङ्ग-वश पहिले होचुका है।

अनवस्थितत्व

जिस मनुष्य को यत्न करने पर भी आम का फल न मिला हो, खेद उसे भी होगा, परन्तु उस से अधिक खेद उसे होगा जिसे वह फल मिल तो गया परन्तु मिलते ही

हाथ से छीन लिया गया। ठीक यह ही दशा उस विद्यार्थी की है जिस के हाथ से एकाग्र भूमि मिलते ही निकल गई। "अनवस्थितत्व" चित्त की इसी अवस्था का नाम है। इस अवस्था में भयङ्कर असफलता के कारण चित्त में विक्षेप का होना आवश्यक ही है। विक्षेप पहिले भी था और इसी लिये यह भूमि स्थिर नहीं रह सकी, परन्तु अब तो यह विक्षेप और भी विकट रूप धारण कर लेगा। जो साधन एकाग्र भूमि को प्राप्त करने के हैं, वे ही चित्त के इस अन-वस्थान को दूर करने के भी हैं। और उन का उल्लेख हम ऊपर के प्रसङ्ग में कर आये हैं।

चित्त की यह एकाग्रता अभ्यासी के कार्य-क्षेत्र का प्रथम ध्येय है। उस की सविकल्प समाधि चित्त के किसी एक विषय पर उस की इच्छानुसार स्थिर रहने पर ही सिद्ध होती है। और जब तक सविकल्प समाधि सिद्ध न हो तब तक वह अपने परम लक्ष्य निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता।

एक विद्यार्थी भी किसी गम्भीर विषय के स्वाध्याय तथा विवेचन में तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक उस का चित्त एकाग्र न हो।

इसी प्रकार किसी भी कार्य-क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक संसारी के कार्य की सिद्धि चित्त की एकाग्रता के ऊपर निर्भर है। अज्ञान अथवा अविद्या का नाश होकर ज्ञान की वृद्धि भी चित्त की एकाग्रता के बिना सम्भव नहीं। क्योंकि चित्त में सत्वगुण के प्रधान होने पर ही विक्षेप दूर होता है, और उस में एकाग्रता का उदय होता है। और

सत्वगुण के प्रधान होने पर ही ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। चित्त में विक्षेप का उदय होना ही प्रत्येक अशान्ति और अज्ञान का मूल है, अतः सफलता के अभिलाषी प्रत्येक विद्यार्थी तथा अभ्यासी को चित्त पर अधिकार करने के लिये उस के विक्षेप और अज्ञान के अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

हम ने संक्षेप से चित्त की कुछ निर्बलताओं का वर्णन किया है। और उन निर्बलताओं को दूर करने तथा चित्त को सबल बनाने के कुछ उपायों का भी संक्षेप से दिग्दर्शन कराया है। हमें पूर्ण आशा है कि पाठकों ने इस पर ध्यान दिया होगा, और वे इस कार्य-क्रम को अपनाने के लिये शीघ्र ही यत्न आरम्भ कर देंगे। भगवान् सब के अज्ञान को दूर कर ज्ञान के प्रकाश से सब के हृदय का भण्डार भर दें।

—————

धृति-मन

मन, बुद्धि और चित्त का व्याख्यान पाठक ऊपर पढ़ आये हैं। मन के ये तीनों नाम दार्शनिकों की परिभाषा में प्रसिद्ध हैं। यहां "धृति भी मन का ही एक भेद है" यह सुन कर पाठक इसे एक अप्रसिद्ध पदार्थ कहेंगे। परन्तु यदि गम्भीर दृष्टि से वैदिक साहित्य का स्वाध्याय किया जावे तो यह विषय नवीन प्रतीत न होगा। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये हम बृहदारण्यक उपनिषत् का एक वाक्य उद्धृत करते हैं :—

कामः सङ्कल्पोविचित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव। बृ. ६।१।३।

काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय यह सब मन ही है।

इस वाक्य में महर्षि याज्ञवल्क्य ने धृति को मन का ही एक भेद बतलाया है।

इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक के छठे अध्याय के दूसरे मन्त्र में धृति को विज्ञान का, और विज्ञान को मन का भेद माना है।

इन उपनिषद्-वाक्यों के अनुसार 'धृति' मन का ही भेद सिद्ध होती है।

इस तीसरे मन्त्र में धृति का व्याख्यान करते हुए लिखा है :—

"यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते"

(जिस के बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता)।

भगवान् के इस उपदेश से हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि हमारी किसी भी शारीरिक शक्ति के द्वारा संसार में जो कोई कार्य होता है उस सब में धृति का हाथ है। इस विषय को गीता में भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥

गीता १८।३३ ।

हे अर्जुन ! जिस धृति से मनुष्य योग के द्वारा, मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया पर नियन्त्रण करता है, और जो धृति अपने विषय से कभी विचलित नहीं होती, वह सत्वगुणी धृति है।

ययातु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

गीता १८।३४ ।

हे अर्जुन ! जिस धृति के द्वारा मनुष्य, प्रसङ्ग से फल की इच्छा करता हुआ, धर्म, काम और अर्थ पर नियन्त्रण करता है, वह रजोगुणी धृति है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥
गीता १८।३५ ।

हे अर्जुन ! जिस के द्वारा, नींद, भय, शोक, खेद और अभिमान के पञ्जे में मनुष्य फंसा रहता है, वह तमोगुणी धृति है ।

गीता के इस प्रसङ्ग को पढ़ कर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि मनुष्य से संसार में किसी भी इन्द्रिय से भला या बुरा जो कर्म होता है उस सब में धृति का हाथ है। यहां तक कि मन और प्राण की भी सब क्रियायों पर उस का नियन्त्रण है ।

वेद का यह वचन कि "जिस के बिना कोई कार्य नहीं किया जासकता" इसी भाव का सूचक है ।

हम पहिले लिख आये हैं कि हमारे शरीर में कितनी ही क्रियाएं ऐसी होती हैं जिन का कि हमें ज्ञान नहीं होता। जैसे कि पेट में अन्त्रों का सञ्चालन, सुषुप्ति अवस्था में प्राण की क्रिया, रक्त-सञ्चार, सारी ही पाचन-क्रियाएं, रात को प्रणिधान करके सोजाने पर ठीक समय पर आंख का खुल जाना, स्मृति के समय संस्कार की खोज आदि ऐसी क्रियाएं हैं जिनका आत्मा को पता नहीं होता, और होती रहती हैं। ये सब कार्य दैवमन, यक्षमन, बुद्धि अथवा चित्त के द्वारा नहीं होते। क्योंकि इन सब से काम लेते समय आत्मा इन का सञ्चालन करता है, और इन के सब कार्य उस के ज्ञान से बाहर नहीं होते, और इसी लिये मन के इन चारों भागों

को व्यापृत मन कहते हैं, अर्थात् आत्मा के द्वारा व्यापार में लगाया हुआ मन। परन्तु जिन क्रियाओं का हम ने ऊपर उल्लेख किया है वे इस अधिकार की नहीं, अतः ये सब क्रियाएं धृतिमन के द्वारा होती हैं। और इसी लिये हम ने धृति का नाम "गूढ व्यापृत मन" रक्खा है। 'गूढ व्यापृत' पद का अर्थ है, छिपा हुआ व्यापार में लगा हुआ।

यहां धृति के कार्यों में भी आत्मा का हाथ, है अवश्य, परन्तु अपने इस प्रयत्न को आत्मा स्वयं भी नहीं जानता। यह एक क्या, आत्मा की कितनी ही शक्तियें ऐसी हैं जिन से वह काम तो ले रहा है परन्तु उन का उसे पता नहीं। उस की अल्पज्ञता ही उस के इस अज्ञान में कारण है, और भगवान् का प्रकाश प्राप्त होजाने पर ज्ञान के विकास के समय उस की ये सब शक्तियें उस के सामने स्वयं प्रकट होजाया करती हैं।

कभी कभी जब हम बुद्धि से किसी विषय का निर्णय करने बैठा करते हैं, तो घण्टों सोचने पर भी निर्णय करने में सफल नहीं हुआ करते, थक कर हम उस विषय को छोड़ देते हैं और सो जाते हैं। प्रातःकाल उठते ही हम देखा करते हैं कि वह निर्णय जिस के कि प्राप्त करने में भगीरथ प्रयत्न करने पर भी हम सफल न हो सके थे, अब हमारे सामने हाथ पर रक्खे हुए आमले की तरह अपने आप ही आ खड़ा हुआ।

यह निर्णय उस समय खोजने पर भी हमें क्यों नहीं मिल रहा था, और अब बिना ही प्रयत्न के हमारे सामने कैसे आ गया, यह एक समस्या है। और इस का उत्तर

देते समय हम इस के अतिरिक्त और क्या कह सकेंगे, कि जिस शक्ति ने यह निर्णय अब हमारे हाथ में दिया है, उस समय उस के कार्य में विघ्न डालने वाली कोई शक्तियें उसे काम नहीं करने देती थीं। और ज्यों ही वे शक्तियें इधर उधर हुई, और इसे काम करने का अवसर मिला तो इस ने तत्काल ही हमारी समस्या को सुलझा दिया। और वह निर्णय हमारी बुद्धि के सागर-तल पर इस प्रकार तैरने लग गया, जिस प्रकार मथी हुई दही के ऊपर मक्खन।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि यह निर्णय हमें किस शक्ति ने दिया, और उस शक्ति के काम में विघ्न डालने वाली शक्तियें कौन थीं।

हम दो ही शब्दों में कह देना चाहते हैं कि यह निर्णय हमें धृति अथवा गूढ व्यापृत मन ने दिया, और उस शक्ति के काम में विघ्न डालने वाली शक्ति व्यापृत मन था। निर्णय करते समय कभी मन इधर उधर के सङ्कल्प विकल्प उठा कर बुद्धि को चञ्चल बना देता था, कभी चित्त में कई प्रकार की वृत्तियें उठ उठ कर बुद्धि की स्थिति को डावांडोल कर देती थीं और कभी बुद्धि स्वयं रजोगुण के प्रभाव में आकर चक्कर खाने लग जाती थी। इस प्रकार ये व्यापृत मन की शक्तियें चञ्चल होने के कारण, उस समय न स्वयं काम करती थीं और न गूढ व्यापृत मन–धृति को काम करने देती थीं।

जब हमें नींद आगई और सोगये; मन, चित्त और बुद्धि तीनों ही को तमोगुण की वृत्ति निद्रा ने हाथ पैर बांध

कर डाल दिया, और सुला दिया; तो अब हमारी धृति देवी को अवसर मिला और उस ने बात की बात में उस समस्या का निर्णय कर जागते ही बुद्धि देवी की भेंट कर दिया।

कभी हम जब किसी विषय का निर्णय करने बैठा करते हैं, और मन को एकाग्र करना चाहा करते हैं, तो हमारी इस क्रिया का प्रयोजन यह ही हुआ करता है कि मन अपना काम करना छोड़ दे और धृति को काम करने का अवसर मिले।

कभी जब हम बड़ी देर तक यत्न करने पर भी निर्णय करने में सफल नहीं हुआ करते, तो किसी स्थूल व्यापार की ओर अग्रसर होजाया करते हैं। माथे पर हाथ फेरने लगते हैं, अंगड़ाई तोड़ने लग जाते हैं, हाथ में ली हुई पैंसिल को दोनों हाथों में फेरने लग जाते हैं अथवा पैर हिलाने लगा करते हैं। यद्यपि हमें पता नहीं होता, परन्तु हमारी इन क्रियाओं का उस समय यह ही प्रयोजन होता है कि हमारा मन आदि व्यापृत मन की शक्तियों को खेलने के लिये इन स्थूल कार्यों का खिलौना मिल जावे, और हमारे गूढ व्यापृत मन-धृति को हमारे इस गम्भीर निर्णय पर काम करने का अवसर मिले।

हमारे विद्यार्थी महानुभाव यह भली भांति जानते होंगे कि उन के कार्य-क्षेत्र में कई समस्याओं का हल करने के अवसर दिन में कई कई बार आया करते हैं। यदि वे इन निर्णयों के मार्ग में प्रतिबन्धक, ऊपर लिखे विघ्नों की ओर भली भांति दृष्टिपात करेंगे, और उन के निवारण के

उपायों का भली भांति अन्वेषण करने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय ही, आगे आए हुए व्यापृत मन-रूपी मेघाडम्बर के छिन्न भिन्न होते ही, उन का धृति मन उन के विज्ञान-रूपी सूर्य का प्रकाश करने में कुछ भी विलम्ब न करेगा।

जिस समय आप किसी गम्भीर समस्या का निर्णय करने के लिये बैठेंगे, उसी समय यदि आप चाहेंगे कि हमारी बुद्धि इस निर्णय के करने में असमर्थ है, अतः हम मन के और चित्त के व्यापार को बन्द करदें, और धृति को काम करने का अवसर दें, तो उस समय यह बात आप के हाथ की न होगी। आप ने अभी तक वह यत्न कहां किया है, कि मन, बुद्धि और चित्त आप के कहने पर चलें, और आप के निषेध करते ही ठहर जावें। यदि आप इस शक्ति के धनी बनना चाहते हैं, तो आइये हम ऋषि दयानन्द का बताया हुआ एक छोटा सा परन्तु महत्वपूर्ण अनुष्ठान आप के सामने रखते हैं, "आम के आम हैं और गुठलियों के दाम हैं"।

विद्यार्थी को नित्य-कर्मों का उपदेश करते हुए उन्हों ने "ब्रह्म-यज्ञ" का उपदेश दिया है। ब्रह्म-यज्ञ सन्ध्या को कहते हैं। सन्ध्या का अनुष्ठान प्रातःकाल के मनोहर समय में-तारों की छाया में, और सायङ्काल के प्रशान्त समय में-दिन के छिपने पर किया जाता है। ये दोनों ही समय शान्त होते हैं, और इसी लिये इन्द्रिय मन आदि चञ्चल शक्तियों को शान्त करने के लिये, अर्थात् अपने अधिकार में लेने के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

सन्ध्या का एक अङ्ग अङ्ग-न्यास और अङ्ग-प्रोक्षण है, इस अङ्ग का अनुष्ठान करता हुआ विद्यार्थी अपने इन्द्रियों और शरीर के अन्य उपयोगी अङ्गों को अपने अधिकार में रखने की धारणा का नित्य अभ्यास करता है। सन्ध्या के दूसरे अङ्ग प्राणायाम के द्वारा प्राण-रूपी प्रबल अंकुश से मन-रूपी हाथी को अपने अधिकार में रखने के भाव को नित्य दो बार अपनी बुद्धि के सामने लाकर खड़ा करता है। सन्ध्या के तीसरे अङ्ग अघमर्षण से वह भगवान् की प्रबल सत्ता की सहायता इस लिये मांगता है कि उस के इस कार्य-क्रम में विघ्न डालने वाले जो अनेक पाप इस की आत्मा में सञ्चित हैं, प्रभु के प्रबल गुणों की सहायता से वह उन से छुटकारा पा सके, अर्थात् उस के दुर्गुणों का स्थान भगवान् के शुभ गुण लेते चले जावें। और इसी लिये अब आचमन कर प्रभु के गुणों का चिन्तन करता हुआ पूर्व के कार्य-क्रम पर दृष्टिपात करने के लिये पूर्व-मन्त्रों के अर्थों का स्मरण करता है। मनसा परिक्रमा के द्वारा मन की विभिन्न अवस्थाओं को सामने रख कर उन पर प्रभु की विभिन्न शक्तियों का प्रभाव डाल उसे उज्ज्वल और स्थिर करने की चेष्टा करता है। उपस्थान मन्त्रों से भगवान् की शरण में जा उस के पवित्र प्रकाश से मन और आत्मा को प्रकाशित कर अपने व्यापृत मन को अपने अधिकार में लाने की चेष्टा करता है। सन्ध्या के साथ ही ऋषि ने योगाभ्यास के भी नित्य अनुष्ठान करने का आदेश दिया है। इस अभ्यास में चित्त की वृत्तियों का निरोध कर विद्यार्थी चित्त को अपने

अधिकार में लेने की चेष्टा करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के तथा मन और चित्त के अधिकार में आजाने पर गायत्री मन्त्र का जप करता हुआ बुद्धि को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न करता है। इन शक्तियों के अधिकार में आजाने पर अब वह प्रयोग कर के देखना चाहता है कि ये सब मेरे कहने पर चलते हैं या नहीं। और इसी लिये अब वह दूसरे देव-यज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है। यहां वह अपनी सामग्री और अपनी इन सब शक्तियों को प्राणिमात्र के कल्याण के लिये न्योछावर करता हुआ इन से सदुपयोग लेने का यत्न करता है। अब हमारे विद्यार्थी समझ गये होंगे कि प्रातःकाल और सायङ्काल के थोड़े से समय का सदुपयोग कर वे कितना अलभ्य लाभ उठा सकते हैं।

हम ने बतलाया है कि नित्य-कर्म का ध्यान से नित्य अनुष्ठान करने वाला विद्यार्थी अपने व्यापृत मन पर अधिकार करने में समर्थ होजाता है। और अब उस के सामने उस के कार्य-क्षेत्र में किसी विषय के निर्णय की समस्या जब आकर उपस्थित होगी, तो वह अपने व्यापृत मन का नियन्त्रण सुगमता से कर सकेगा। और अपने धृति मन को कार्य करने का अवसर दे, अपने ज्ञान के क्षेत्र को अधिक से अधिक उज्ज्वल बनाता हुआ संसार-यात्रा का एक सफल यात्री बन सकेगा।

ऊपर उद्धृत किये गये गीताकार के वचन से प्रमाणित होता है कि धृति का नियन्त्रण, प्राण, मन और सब इन्द्रियों

पर है। और प्राण का कार्य सारे शरीर में विस्तृत है, इस लिये धृतिमन का भी निवास सारे शरीर में होना चाहिये।

धृति नाम धारण करने का है। अन्तःकरण के इस भाग का यह नाम अनन्त शक्तियों के धारण करने के कारण ही पड़ा है। इस के पास अपनी शक्तियें भी पर्याप्त मात्रा में हैं, परन्तु समय आने पर यह अपने आत्मा और भगवान् की भी शक्तियों को धारण कर और भी अधिक चमक उठता है। आत्मा और भगवान् की किन शक्तियों को, यह किस प्रकार धारण करता है, और उस समय क्या कार्य किया करता है; इस का वर्णन आगे के दो मन्त्रों में किया जावेगा।

धृतिमन को दैवमन अथवा यत्तमन की भांति शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चित्त की तरह यह संस्कारों का भण्डार भी नहीं है, जिस से कि इसे संस्कारों को मिटा स्वच्छ करने की आवश्यकता पड़े। जिस प्रकार बुद्धि को शास्त्रों के गम्भीर स्वाध्याय की साण पर चढ़ा कर उज्ज्वल किया जाता है, धृतिमन अपने लिये इस प्रकार के प्रयत्न की भी मांग नहीं करता। वह कुछ नहीं मांगता। वह तो हम जो कुछ उसे दे रहे हैं उस से अवकाश मांगता है। मन, चित्त और बुद्धि की क्रियाओं से हम उसे विक्षेप दे रहे हैं। और इसे वह अपने स्वरूप को विकृत करने वाला भयङ्कर विष समझता है और इस से छुटकारा पाने की सदा अभिलाषा किया करता है। यह हमारे अनेक प्रकार के हित-साधन में लगे रहने का यत्न किया करता है, परन्तु हमारी ये शक्तियें इसे ऐसा करने का अवसर ही नहीं देतीं।

हमारी ये शक्तियें अपनी इन क्रियाओं से धृतिमन की शक्तियों को न तो नष्ट कर सकती हैं और न निर्बल। उस की अपनी शक्तियें अपने वास्तविक रूप में उस के अन्दर ही स्थिर और सुरक्षित रहती हैं, केवल इन की इस विक्षेप की घुड़दौड़ में उस की उन शक्तियों को कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। हां इस में कोई सन्देह नहीं कि हमारे शरीर में खान-पान अथवा व्यवहार से; सत्व, रज अथवा तम, जो गुण प्रधान होजाता है, उस गुण का प्रभाव हमारे धृतिमन पर भी गहरा पड़ता है। और उस गुण के प्रभाव में आकर हमारे इस मन की शक्तियें अपने कार्य-प्रवाह को उसी दिशा में बहाने के लिये विवश होजाया करती हैं, जिस प्रकार के गुण से वे प्रभावित हुई हुई हों।

गीता के जो तीन श्लोक हम पहिले उद्धृत कर आये हैं, उन से यह भली भांति व्यक्त होजाता है कि धृति के ऊपर किस गुण का प्रभाव पड़ने पर उस की शक्तियें किस दिशा में कार्य करने लगा करती हैं। उन्हीं श्लोकों से हम यह भी जान सकते हैं कि हमें सांसारिक रूप में; धर्म, काम और अर्थ की प्राप्ति में सफल होने के लिये अपने धृतिमन के ऊपर रजोगुण के प्रभाव को डालने की आवश्यकता है। परन्तु जब हम यह चाहें कि हमारा धृतिमन अपनी सब शक्तियों का प्रयोग कर स्वतन्त्र रूप से हमारा हितसाधन करे, और हमारी मन, प्राण, इन्द्रिय आदि सब शक्तियें उस की मुट्ठी में रहती हुई उस की इच्छानुसार काम करें, तो अपने इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये हमें अपने शरीर

में सत्वगुण का विकास कर, शेष दो गुणों का तिरोभाव करना होगा।

सत्वगुण का विकास होते ही हमारी इन शक्तियों में शान्ति की गङ्गा बह चलेगी, विक्षेप की उछलती हुई और नाचती हुई तरङ्गें निर्वात स्थान में शान्त हुए जल की भांति अपनी चञ्चलता को छोड़ देंगी। और इस के फलस्वरूप हमारे प्रशान्त; मन, चित्त और बुद्धि, अपने स्वामी धृति-मन की आज्ञा प्राप्त करने के लिये, उस के सामने हाथ जोड़े हुए निश्चल खड़े मिलेंगे।

हमें यह न समझ लेना चाहिये कि सत्वगुण के प्रधान होने पर हम रजोगुण की कृपा से प्राप्त होने वाले; धर्म, अर्थ और काम से वञ्चित रह जावेंगे। इस के लिये हम अपने विद्यार्थियों को कहना चाहते हैं कि उन्हें इस डर को हृदय से निकाल देना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम, सत्वगुण के प्रधान होने पर भी उन्हें अवश्य ही प्राप्त होंगे, केवल अन्तर यह होगा कि उन की मात्रा निश्चित होजावेगी। और वह मात्रा इतनी होगी कि उसे परिग्रह का नाम न दिया जा सके। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वे सत्वगुण के प्रकाश में उतने ही काम की पूर्ति कर सकेंगे, और उतना ही अर्थ प्राप्त कर सकेंगे जिस से उन्हें अपना ही भाग मिल सके, दूसरे के भाग का अणु मात्र भी उन्हें स्पर्श न कर सके। और सत्वगुण की प्रधानता में हमारे धर्म का स्वरूप भी वह ही होगा जो हमारी परिग्रह की ओर बढ़ती हुई इच्छा-शक्ति की लगाम को तत्काल खींच कर उस के वास्तविक सत्र

तक ही उसे सीमित रहने के लिये विवश कर देगा। वह प्रकट हुआ हुआ धर्म इस के साथ ही यह कार्य भी करेगा, कि जिस प्रकार वह हमारा अपना ही भाग प्राप्त करने के लिये और दूसरे का छोड़ देने के लिये हमें विवश कर रहा है, इसी प्रकार दूसरों को दूसरों का भाग प्राप्त कराने की ओर भी वह अपना पग आगे बढ़ायेगा।

रजोगुण के अधिकार के समय, कृष्ण भगवान् ने लिखा है "प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी" किसी का काम कर देने पर रजोगुणी मनुष्य प्रसङ्ग से फल की भी अभिलाषा करता है, और नहीं तो यह ही फल सही कि लोग उस की प्रशंसा करें। परन्तु सत्वगुण का अधिकार होजाने पर यह अभिलाषा मिट जाती है और इस प्रकार के सब कर्म कर्तव्य-बुद्धि से हुआ करते हैं फल की कामना से नहीं। फल की कामना से दूसरे का हित-साधन करने वाला रजोगुणी मनुष्य उस फल के न मिलने पर उस कार्य को छोड़ भी सकता है, परन्तु कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने वाला सत्वगुणी मनुष्य यह समझता ही नहीं कि वह किसी अन्य का हित-साधन कर रहा है। उस के सामने तो उस समय यह धारणा हुआ करती है कि मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूं। रजोगुणी मनुष्य अर्थ और काम के क्षेत्र को मर्यादा में रखना नहीं जानता, और इसी लिये उस के काम का क्षेत्र इतना विस्तृत होजाता है कि दूसरों के अधिकार पर भी छापा मारने लग जाता है, और इसी लिये संसार में भयङ्कर अशान्ति का जन्म होता है। परन्तु सत्वगुणी मनुष्य अपने काम की अवधि को जानता है और वह अर्थ के लेन-देन की

मर्यादा को ऐसे नियम में बांध देता है कि जिस का भाग है उसी को मिले, और इसी लिये उस के कार्य-काल में जनता में किसी प्रकार के क्षोभ की अग्नि भड़कने ही नहीं पाती। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि विद्यार्थियों को यह चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं कि सत्वगुण के प्रधान होजाने पर वे धर्म, अर्थ और काम से वञ्चित रह जावेंगे। ये सारी ही वस्तुएं उन्हें सत्वगुण के कार्य-काल में भी अवश्य मिलेंगी, परन्तु मिलेंगी उचित मात्रा में। और इसी में उन का तथा संसार का भला है।

इस के साथ ही सत्वगुण के क्षेत्र में पहुंचने के इच्छुक विद्यार्थियों को हम एक शुभ सन्देश और भी सुना देना चाहते हैं, और वह यह कि सत्वगुण के प्रबल होजाने पर, उन के इन्द्रिय, मन, चित्त और बुद्धि निश्चल होजावेंगे, और उन्हें उन के धृतिमन की उन उन्नत शक्तियों से लाभ उठाने का अवसर मिल सकेगा, जिस से उन की कार्य-माला में स्थान स्थान पर सिद्ध पुरुषों जैसी आश्चर्य-जनक घटनाओं की झलक दिखाई देगी। और कार्य-सिद्धि के लिये निश्चित किये हुए उन के साधन, कार्य सिद्धि को उन के बाएं हाथ में देते हुए हाथ जोड़ सामने खड़े दिखाई देंगे।

धर्म, अर्थ और काम की तो बात ही क्या है, चतुर्वर्ग का चौथा अङ्ग मोक्ष भी सत्वगुण के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्यार्थी के लिये सुलभ होजावेगा। कारण स्पष्ट है कि कर्म के निष्काम होजाने पर फल-कामना का बन्धन टूटते ही कामना के उतराव-चढ़ाव का क्षोभ बन्द होजावेगा, और अतएव धृति के प्रशान्त, गम्भीर, स्थिर एवं विशुद्ध जल में

प्रभु के प्रकाश तथा आनन्द की मनोहर झलक पड़ते ही विद्यार्थी अपना आसन संसार के दुःख-सागर से ऊंचा उठा हुआ तथा प्रमोद के मनोहर गगन में बिछा हुआ पावेंगे।

हम कुछ आगे निकल गये, यह विश्वभान के प्रकरण की बात थी जो कि हम ने यहां कह डाली। परन्तु हमें इस घटना का उल्लेख विवश प्रसङ्ग-वश करना पड़ा है, प्रधान-रूप से इस का स्पष्टीकरण विश्वभान के प्रकरण में ही होगा।

हम लिख आये हैं कि धृति अनेक अद्भुत शक्तियों का भण्डार है। उस की शक्तियों की कुछ आश्चर्य-जनक घटनाओं का दिग्दर्शन हम आगे की कुछ पङ्क्तियों में कराना चाहते हैं।

कभी कभी हम यह प्रणिधान करके सोजाया करते हैं कि प्रातःकाल चार बजे उठेंगे। यह प्रणिधान हम मन को स्थिर कर गम्भीर भावना से किया करते हैं, इस के बाद, और नींद आने से पहिले, अन्य किसी विशेष कार्य-क्रम को अवसर नहीं देते, नींद आजाती है। इन्द्रियों, मन, चित्त और बुद्धि के काम बन्द होजाते हैं। आत्मा को अब कुछ पता नहीं होता कि क्या हो रहा है। वह जागने पर केवल यह कहा करता है कि आज बड़े आराम से सोये। उस की इस स्मृति से यह अनुमान करना पड़ता है कि सोने के समय उस ने कुछ सुख का अनुभव किया होगा। परन्तु इस के अतिरिक्त उस के सुषुप्ति-काल के किसी और अनुभव का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस ने प्रातःकाल चार बजे जागने के लिये प्रणिधान के बाद सुषुप्ति-काल में न अपनी कोई धारणा बनाई और न अपनी उस धारणा को

अनुसार मन आदि शक्तियों को जागने के लिये किसी प्रकार की क्रिया करने का आदेश दिया। यदि उस ने ऐसा किया होता तो हमें उस की उस क्रिया का स्मरण होना चाहिये था, परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह स्मरण हमारे ज्ञान के क्षेत्र में प्रकट नहीं होता। और यह घटना सत्य है कि हमें ठीक चार बजे जाग आजाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमें किसी ने बल-पूर्वक हाथ पकड़ के उठा दिया है। कई सज्जनों ने अपने साथ बीती सुनाई है कि हमें ठीक समय पर चार बजे घण्टी सुनाई दी, और वहां आस-पास कोई घड़ी नहीं थी। किसी ने सुनाया है कि हमें चार बजे किसी ने आवाज़ दी, कि उठो, और वहां कोई मनुष्य न था। हम इस प्रकार की घटनाओं को आकस्मिक समझ कर छोड़ दिया करते हैं, परन्तु बिना साधन के अकस्मात् किसी भी घटना का घट जाना न्याय-सङ्गत नहीं। यह प्रसिद्ध दार्शनिक तथ्य है कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। और जब बात ऐसी है तो हमें इन घटनाओं को आकस्मिक न कह कर, इन का कारण खोजना होगा।

अब हम इन घटनाओं के कारण का निर्देश करने के लिये अपने कुछ विचार विद्यार्थियों के सामने रक्खेंगे, और प्रेरणा करेंगे कि वे, उन्हें तर्क की कसौटी पर कसने का यत्न करें।

यह ठीक है कि हमारे मन, बुद्धि और चित्त सुषुप्ति के समय अचेत अवस्था में थे, और उन्हों ने हमें जगाने में कोई भाग नहीं लिया। आत्मा के भी अपने अनुभव में किसी ऐसी क्रिया का खोजने पर भी पता नहीं चलता। हम

पहिले प्रकट कर आये हैं कि मन, बुद्धि और चित्त का व्यापार बन्द होजाने पर ही हमारे धृतिमन को काम करने का अवसर मिला करता है। जिस समय सोने से पहिले हम ने चार बजे जागने के लिये प्रणिधान किया था, उस समय भी हम ने मन का व्यापार बन्द कर दिया था। और इसी लिये हमारे धृतिमन ने हमारी उठाई हुई उस विचार-तरङ्ग को तत्काल ही ग्रहण कर लिया था। हमारा धृतिमन जिस पदार्थ को एक बार ग्रहण कर लेता है, उस का उस को संभाल रख लेने का, और समय आने पर उस पर कार्य करने का अभ्यास है, अभ्यास ही नहीं स्वभाव है। यह तत्व आत्मा के अत्यन्त सन्निहित है। और भगवान् ने इस की रचना ही ऐसी की है कि इसे यदि बाहर के प्रभावों से सुरक्षित रखा जावे तो यह सदा ही आत्मा के हित-साधन में लगा रहता है। इस के अन्दर उठाई गई भावना की तरङ्ग नियत काल पर और उचित मात्रा में कार्य किया करती है। हमारे प्रणिधान की भावना तरङ्ग का ही यह प्रभाव था कि धृतिमन ने ठीक चार बजे जाग उठने के लिये शरीर में एक ऐसी क्रिया-धारा बहादी कि हम नियत समय पर उठने के लिये विवश होगये। एक जड़ स्प्रिङ्ग को दी हुई चाबी नियत समय तक घड़ी के पुर्ज़ों को हिलाती रहती है। इसी प्रकार एक जड़ रैकट बम अपने अन्दर बहती हुई प्राकृतिक तरङ्ग के कारण नियत स्थान पर ही जाकर फटता है, ठीक इसी प्रकार जड़ होता हुआ भी धृतिमन अपने अन्दर बहाई गई भावना-तरङ्ग के कारण नियत समय पर नियत कार्य ही किया करता है।

यह प्रश्न किया जासकता है कि घण्टी न होते हुए भी किसी मनुष्य को घण्टी का शब्द कहां से सुनाई देगया, और कोई मनुष्य न होने पर भी मनुष्य की वाणी की ध्वनि कहां से आगई ?

इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कथन यह है कि वस्तुतः वहां घण्टी और मनुष्य की वाणी की ध्वनि थी ही नहीं, और न जागने वाले मनुष्य को वह सुनाई दी है। हमारे धृतिमन में जिस प्रकार यह भावना-तरङ्ग हमने प्रणिधान के द्वारा उठाई है कि हम चार बजे जागेंगे, ठीक इसी प्रकार कभी हमने यह तरङ्ग भी उठाई होगी कि चार बजे घण्टी बजने पर उठेंगे, अथवा किसी मनुष्य के उठाने पर उठेंगे। जब चार बजे जागने का समय आया तो हमारी वर्तमान भावना-तरङ्ग के साथ प्रबल होने के कारण उन पुरानी भावना-तरङ्गों में से भी किसी का संयोग होगया, और धृति-मन में गूंजती हुई वह ध्वनि, न होती हुई, होती हुई प्रतीत हुई, और न सुनते हुए भी हमने उस के सुनने का अनुभव किया। ऐसी घटनाएं सब स्थानों पर नहीं होतीं, वहां ही हुआ करती हैं जहां इस प्रकार की भावनाएं जागृत होकर एक दूसरी के साथ मिल जाया करती हैं।

एक सज्जन मुझ से कुछ प्राणायाम की प्रक्रिया पूछ कर गये, घर जाकर एक मास के बाद उन्हों ने लिखा कि "प्राणायाम के बाद जब मैं ध्यान में बैठा तो आपने मुझे ध्यान में कुछ उपदेश दिया है। क्या ठीक आप ने कोई ऐसी आत्मिक प्रेरणा की है अथवा यह मेरे मन की अपनी ही कल्पना है ?"।

मैंने उन को यह ही उत्तर दिया कि "न तो मैं ऐसा कर सकता था, और न मैंने यह कार्य किया है। यह सब आप की ही अपनी भावनाओं का प्रभाव है"।

यह एक संक्षिप्त उत्तर था, हम इसी उत्तर को और खोल कर इस प्रकार कह सकते हैं, कि उक्त महोदय ने कहीं यह सुना होगा कि अभ्यास-मार्ग का उपदेश देने वाले लोग ध्यान में आकर मार्ग दिखला जाया करते हैं। यह भावना धृति-मन में सञ्चित पड़ी होगी। कभी ध्यान में मन एकाग्र होगया, विक्षेप दूर होगया और धृति को कार्य करने का अवसर मिल गया। जो भावना सूक्ष्म रूप में धृति-मन में बैठी हुई थी अब उस ने मूर्तिमान् स्थूल रूप धारण कर लिया। धृति ही उपदेश देने वाला गुरुदेव बन गई। उपदेश के शब्द भी स्पष्ट सुनाई देने लगे। शब्दों से भाव भी ठीक प्रकट हो रहे हैं, और उपदेश ग्रहण करने वाला शिष्य ध्यान देकर, देख, सुन और समझ भी रहा है। यह सब का सब घटना-क्रम, धृतिमन की शक्ति का चमत्कार है।

धृतिमन के द्वारा दी गई ऐसी प्रेरणाएं कभी कभी सर्वथा यथार्थ हुआ करती हैं, और कभी कभी असत्य भी हुआ करती हैं। इन दो प्रकार के परिणामों में कारण, धृति-मन की अपनी दो प्रकार की अवस्थाएं ही हैं। जब उस में सत्वगुण की मात्रा बढ़ी हुई होती है, और तमोगुण तथा रजोगुण दबे हुए होते हैं, तब उस की दी हुई सब प्रेरणाएं यथार्थ होती हैं। और उन प्रेरणाओं के अनुसार कार्य करने पर मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ उठा सकता है। परन्तु

जब सत्त्वगुण निर्बल होने के कारण दबा हुआ होता है, और तमोगुण तथा रजोगुण बढ़ हुए होते हैं, तो उन प्रेरणाओं में सचाई का अंश बहुत कम होता है। और उन प्रेरणाओं के आधार पर काम करने वाले मनुष्य को हानि उठानी पड़ती है। हमारे विद्यार्थी महोदय यदि घर बैठे सच्चा गुरु प्राप्त करना चाहते हैं, और अपने आगामी कार्य-क्रम के लिये यथार्थ प्रेरणाएं प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें अपने धृति-मन में से तमोगुण और रजोगुण की मात्रा को कम कर उस में सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ानी चाहिये। और इस मात्रा के बढ़ाने के लिये जैसा कि हम पहिले लिख आये हैं उन्हें अपने आहार और व्यवहार पर नियन्त्रण करना होगा।

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के बढ़ाने वाले आहार कौन कौन हैं, इस भेद को विद्यार्थी महोदय गीता के इन तीन श्लोकों से संक्षेप से जान सकते हैं, जिन्हें कि हम नीचे उद्धृत करते हैं :—

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥
गीता १७।८

जो लोग सत्त्वगुणी बनना चाहते हैं उन को, आयु को बढ़ाने वाले, सात्विक अर्थात् सौम्य भावनाओं और बल को बढ़ाने वाले, रोग से बचाने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले, रसीले, चिकने, देर तक रहने वाली शक्ति देने वाले और हृदय के लिये हितकारक भोजन प्रिय होने चाहियें।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ गी. १७।९

उन लोगों को रजोगुणी समझना चाहिये, जिन्हें चरपरे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रूखे, जलन को पैदा करने वाले भोजन प्यारे हों। इस प्रकार के भोजन, दुःख, शोक और रोग के देने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ गी. १७।१०

तमोगुणी लोगों को देर का बना हुआ, जो रस-रहित होगया हो, जिस में दुर्गन्धि पैदा होगई हो, बासी, खाने के बाद बचा हुआ, और बुद्धि के लिये हानिकारक अर्थात् अधिक कफ तथा आलस्य को पैदा करने वाला भोजन प्रिय होता है।

मनुष्य जब यह जानना चाहे कि मेरे शरीर में इस समय कौन सा गुण बढ़ा हुआ है तो उस की परीक्षा के साधन, गीता में ही कृष्ण भगवान् ने बतलाए हैं। उन्हें भी हम विद्यार्थियों के सुभीते के लिये नीचे उद्धृत किये देते हैं :–

सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ गी. १४।११

जब इस शरीर में रहने वाले मन, इन्द्रिय आदि सब साधनों में ज्ञानरूपी प्रकाश का उदय होजाता है, अर्थात् उस के अधिकांश अनुभव यथार्थ होने लगते हैं, तब समझना

चाहिये कि शरीर में सत्वगुण बढ़ा हुआ है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ गीता १४।१२

हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, कार्य करने की चेष्टा, कार्य का आरम्भ, अशान्ति, प्रत्येक वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा, ये सब शरीर में रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ गी. १४।१३

हे कुरुनन्दन! शरीर में तमोगुण के बढ़ने पर, अज्ञान, किसी भी काम के करने में अरुचि, सावधान न रहना और मोह ये सब बढ़ जाते हैं।

इस प्रकार अपने अन्दर बढ़े हुए ऐसे किन्हीं भी गुणों को-जान कर मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है। इन में से एक प्रकार के समुदाय के बढ़ने पर शरीर में एक गुण की, और रले मिले दो समुदायों के सभासदों के बढ़ने पर, सत्व+रज, रज+तम, तम+सत्व, आदि किन्हीं दो गुणों की वृद्धि को समझ सकता है। और जब इन तीनों ही समुदायों के मिले जुले सभासद शरीर में काम करते दिखाई दें तो उसे समझ लेना चाहिये कि मेरे शरीर में तीनों गुणों की मात्रा समान सी है।

यहां विद्यार्थी यह प्रश्न कर सकते हैं कि अपनी परीक्षा कर लेने पर भी जब हम इन तीनों में से किसी अभीष्ट गुण को अपने अन्दर बढ़ाना चाहें तो उस का उपाय क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में हम उन्हें निम्नलिखित उपायों को अपनाने की सम्मति देंगे :—

१—उन्हें अपना खान-पान ऐसा नियत कर लेना चाहिये जो शरीर में उन के अभीष्ट गुण की उन्नति करे। खान-पान को सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी बनाने के दो प्रकार होते हैं। एक तो उस का वह स्वरूप है जो कि अपने स्वभाव के कारण उसी प्रकार के गुण को बढ़ाता है, और इस का कुछ दिग्दर्शन गीता के १७ वें अध्याय के आठवें, नवें और दसवें श्लोक में, ऊपर कराया जा चुका है। और दूसरा उस अन्न के कमाने का ढङ्ग है। यदि वह अन्न किसी को कष्ट न देकर, औरों को लाभ पहुंचाते हुए शुद्ध भावना से कमाया गया होगा तो सत्वगुण को बढ़ावेगा। और यदि अत्यन्त उग्र वृत्ति से कार्य कर, अपने और पराये सब के अधिकार पर छापा मारते हुए, दूसरों को पीड़ा देकर कमाया गया होगा तो वह रजोगुण को जन्म देगा। और यदि ढीले, आलसी और प्रमादी रह कर किसी के कहने सुनने पर किसी प्रकार कुछ थोड़ा काम कर, पेट-भराऊ अन्न का सङ्ग्रह किया होगा, तो वह अन्न तमोगुण को जागृत करेगा।

२—उन्हें अपने नित्य के रहन सहन आदि व्यवहार को अपने अभीष्ट गुण के अनुसार बनाना होगा। जैसे कि :—

(क) अपने सोने और जागने के सब कार्य-क्रम को उन्हें नियम में बांध लेना चाहिये।

(ख) उन्हें अपने साथ भ्रमण, क्रीड़ा, स्वाध्याय आदि

करने वाले साथियों का चुनाव अपने अभीष्ट गुण के अनुसार करना चाहिये।

(ग) उन्हें ऐसे वायु-मण्डल के अन्दर पग न रखना चाहिये जो उन के अभीष्ट गुण के विरोधी भावों का प्रचारक हो।

३—उन्हें अपने स्वाध्याय की सामग्री अपने अभीष्ट गुण के अनुसार ही नियत करनी चाहिये।

४—उन्हें अनुसरण के लिये ऐसे ही प्राचीन पुरुषों को आदर्श बनाना चाहिये, जिन्हों ने उन के अभीष्ट गुण का अपने अन्दर विकास किया हो।

५—उन्हें अपनी दिन-चर्या की पुस्तक में अपनी सफलताओं तथा असफलताओं का वर्णन पृथक् पृथक् विस्तार से लिखना चाहिये, और अपने पिछले सब वृत्तान्त का आठवें दिन पाठ करना चाहिये।

६—उन्हें एक ऐसा दिन नियत कर लेना चाहिये जिस दिन सब साथी इकट्ठे होकर अपने कार्य-क्रम में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन एक दूसरे के सामने कर सकें, और उन के दूर करने का प्रकार सोच सकें।

७—उन्हें ऐसे सत्सङ्गों और ऐसी कथा-वार्ताओं में अवश्य सम्मिलित होना चाहिये जहां से उन की इष्ट-सिद्धि के लिये उपयोगी सामग्री मिल सके।

८—उन्हें अपने नित्य-कर्म के समय अपनी ईश्वर उपासना में प्रभु के सद्गुणों से अपनी इष्ट-सिद्धि के अनुसार सहा-

यता प्राप्त करने की भावना, मन में जागृत करनी चाहिये।

हम समझते हैं कि हम ने किसी भी गुण का उत्थान करने के लिये, उचित साधन संक्षेप से विद्यार्थियों के सामने उपस्थित कर दिये हैं, इन का विस्तार वे स्वयं कर सकते हैं।

यह निर्देश हम और कर देना चाहते हैं कि उन्हें काम में लगने से पहिले अपने धृतिमन में यह भावना अवश्य जागृत कर देनी चाहिये कि हम इस कार्य को अवश्य पूरा करेंगे। ऐसा करते ही उन के मन में यह भाव अवश्य उठने लगेगा कि हम कार्य-सिद्धि के सर्वथा निकट हैं।

हम पहिले यह लिख आये हैं कि हमारे धृतिमन में हमारी दी हुई प्रणिधान आदि भावनाओं का सङ्ग्रह रहता है। हमारे इस विचार पर विद्यार्थी यह आक्षेप कर सकते हैं कि यदि यह बात है तो हमारे चित्त और धृति मन में अन्तर क्या रहा? चित्त में भी हमारे पूर्व-अनुभवों के संस्कार स्मृति के लिये, और किन्हीं अपने अनुकूल कर्तव्य-कर्मों की ओर मन को प्रेरित करने के लिये सञ्चित रहते हैं, और धृति में भी हमारी दी हुई भावनाओं का सङ्ग्रह रहता है। उन भावनाओं को भी एक प्रकार के संस्कार ही समझना चाहिये।

इस आक्षेप का समाधान धृतिमन के स्वरूप के निरूपण में होचुका है, यहां हम उसी पदार्थ को और अधिक खोल, और पृथक् कर, स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

हमारे चित्त में ज्ञान और कर्म से उत्पन्न हुए संस्कारों

का सङ्ग्रह है। इस प्रकार चित्त को इन संस्कारों का कोष कहा जासकता है। इन संस्कारों के आधार पर चित्त में कोई कार्य करने की क्षमता नहीं। दैव, यज्ञ और बुद्धि मन इन संस्कारों के आधार पर कार्य किया करते हैं। इस के विपरीत धृतिमन आत्मा के कार्य-साधन का एक प्रधान यन्त्र है। जो भावना-रूपी कच्चा माल कार्य करने के लिये उसे देदिया जाता है वह उसी समय से उस पर कार्य-करना आरम्भ कर देता है। और जब तक उसे किसी परिणाम तक नहीं पहुंचा देता चुप नहीं बैठता।

किसी विषय का निर्णय न कर सकने पर बुद्धि के छोड़े हुए विषय का निर्णय करना वह उसी समय आरम्भ कर देता है और अन्त में निर्णय कर बुद्धि के अर्पण कर देता है, यह हम पहिले कह आये हैं। उस को दी हुई प्रणिधान-रूपी भावना पर भी उस के किये कार्य का उल्लेख हम ऊपर कर ही आये हैं। इस प्रकार चित्त केवल संस्कारों का एक कोष मात्र है, और धृति है आत्मा के कर्मठ वर्ग का एक प्रधान नायक।

चित्त का अपने क्षेत्र से बाहर कोई अधिकार नहीं, परन्तु धृति का प्राण, मन और इन्द्रिय सभी की क्रियाओं पर प्रभुत्व है, अतः चित्त और धृति को एक नहीं कहा जासकता।

चित्त के संस्कारों का व्यापार स्वप्न-अवस्था तक रहता है, सुषुप्ति में उस का सब कार्य बन्द होजाता है, क्योंकि उस का सब सहायक-वर्ग, दैवमन, यज्ञमन और बुद्धि उस अवस्था में अपना कार्य बन्द कर तमोगुण की गाढ़ निद्रा में

चले जाते हैं। परन्तु धृतिमन का कार्य सुषुप्ति अवस्था में भी चलता रहता है। वह उस समय प्रणिधान और किसी विषय के निर्णय के लिये दी हुई समस्याओं पर कार्य करता रहता है। प्राणों का नियन्त्रण, रक्त और रस का सञ्चार, पाचन-क्रिया आदि व्यापार उस समय उसी के नियन्त्रण में हुआ करते हैं, अतः चित्त और धृति को एक नहीं कहा जासकता।

राममूर्ति आदि बड़े बड़े शक्तिशाली पहलवान जो अपनी शक्ति का किसी एक स्थान पर सङ्ग्रह कर अद्भुत कार्य किया करते हैं, जैसे कि भुजाओं में शक्ति का सङ्ग्रह कर मोटरकार का रोकना, छाती में शक्ति-सङ्ग्रह कर हाथी जैसे बड़े शरीर वाले प्राणी के भार को संभालना आदि; यह सब धृति के द्वारा प्राण-शक्ति के नियन्त्रण का ही परिणाम है।

अभ्यासी लोग प्राण, मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को रोकने तथा संस्कारों के आधार पर उठने वाली चित्त की वृत्ति के निरोध के लिये जिस सारे शरीर में व्यापक शक्ति की सहायता लेकर अपने कार्य में सफल हुआ करते हैं, वह धृतिमन ही है।

हम ने इन थोड़ी सी पङ्क्तियों में विद्यार्थियों तथा अभ्यासी महानुभावों की मनोवृत्ति को उस शक्ति की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की है, जो उन की जीवन-नौका को संसार-महासागर की विशाल चट्टानों से बचा, उसे उस किनारे लगाने के लिये अत्यन्त आवश्यक शक्तियों का केन्द्र है। वे अपनी इस महत्त्व-पूर्ण सत्ता को समझें, और अपनी

सब शक्तियों के व्यापार पर नियन्त्रण कर, उसे कार्य करने का अवसर दे, उस की अनन्त शक्तियों से अलभ्य लाभ उठा सकें, यह हमारी आंतरिक धारणा है। भगवान् सब को सन्मार्ग के पथिक बनावें।

प्रत्यग्भान-मन

हम इस से पहिले धृतिमन का व्याख्यान कर आये हैं। यह मन भी धृतिमन का ही एक अङ्ग है। अतएव इस का कोई पृथक् नाम, इस का व्याख्यान करने वाले चौथे मन्त्र में नहीं आया। धृतिमन में सत्वगुण की मात्रा बढ़ जाने पर उस की शक्ति बढ़ जाती है, और उस के निर्देश प्रायः ठीक हुआ करते हैं–यह हम पहिले लिख आये हैं। यहां हम यह कहना चाहते हैं कि धृतिमन में सत्वगुण की प्रधानता होने पर उस में आत्मा के गुण-ज्ञान की झलक पड़ने लगती है। उसी झलक से वह ज्ञानी न होता हुआ भी ज्ञानी प्रतीत होता है। और वह अपने अन्दर भूत, भविष्यत् और वर्तमान, तीनों कालों के ज्ञान की शक्ति का अनुभव करने लगता है।

आत्मा अपने लिये सदा अहम् शब्द का प्रयोग किया करता है। और इस अवस्था में वह 'अहम्' स्वयं ही धृतिमन में चमक रहा है, इस लिये मन का इस अवस्था में एक नाम अहङ्कार भी पड़ जाता है।

प्रत्यक् नाम आत्मा का है, इस अवस्था में अन्तःकरण में आत्मा का भान होता है, इस लिये हम ने यहां मन की

इस अवस्था का नाम "प्रत्यग्भान" लिखा है।

आत्मा अमर है, और अमर आत्मा के गुण ही इस समय मन के स्वरूप के निर्माता हैं, इस लिये वेद-मन्त्र में इसे इस अवस्था में अमृत कहा है।

धृतिमन का यों भी, मन, प्राण और ज्ञान इन्द्रियों पर अधिकार है; परन्तु यहां तो सत्वगुण के प्रधान होजाने पर यह इन सातों का भली प्रकार नियन्ता होजाता है; इसी लिये इस अवस्था में इसे सात होताओं से ज्ञान-यज्ञ रचाने वाला लिखा है।

मन्त्रार्थ हम पहिले लिख आये हैं। और मन्त्र का भाव ऊपर की पङ्क्तियों में प्रकट कर दिया गया है। तथापि पाठकों के सुभीते के लिये मन्त्र और मन्त्रार्थ यहां फिर लिखे देते हैं।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो अमर मन इस भूत, वर्तमान और भविष्यत्; सब को अपने ज्ञान में ग्रहण करता है। और जो सात होताओं वाले ज्ञान-यज्ञ को रचाता है। वह मेरा मन, शुभ सङ्कल्प का आधार हो।

यहां विद्यार्थी यह प्रश्न कर सकते हैं कि मन में तो ज्ञान है ही नहीं, फिर उसे त्रिकालज्ञ कैसे कहा; और यदि आत्मा के आभास से मन में ज्ञान का आभास मानें तो यह भी सङ्गत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आत्मा स्वयं ही अल्पज्ञ होने के कारण त्रिकालज्ञ नहीं तो दूसरे को त्रिकालज्ञ कैसे बना सकेगा?

इस प्रश्न के इस अंश को हम स्वीकार करते हैं, कि मन चेतन नहीं–उस में ज्ञान नहीं। और यह भी हमें स्वीकार है कि आत्मा अल्पज्ञ है। यह सब कुछ स्वीकार करने पर भी हम यह मानते हैं कि आत्मा अपने इस ज्ञान को बढ़ा सकता है, और उस के संसर्ग से, अथवा साधन होने के कारण मन का भी उस बढ़े हुए ज्ञान से सम्बन्ध कह सकते हैं।

आत्मा ऐसा तत्व है जो अल्पज्ञ होता हुआ भी अपने अन्दर विशाल ज्ञान के भण्डार का सङ्ग्रह कर लेता है। एक समय ऐसा था कि वह ज्योतिष-विद्या का एक भी अक्षर नहीं जानता था। और ज्योतिषी विद्वानों के संसर्ग में रहने, और उन से ज्ञान लेते रहने के बाद एक समय ऐसा आया कि यह प्रश्न करने पर कि 'इस वर्ष सूर्य-ग्रहण कब और किस समय होगा?' उस ने तत्काल उत्तर दे दिया। उस से यह प्रश्न भी किया गया कि इस से पांच वर्ष पहिले किस मास में और किस समय सूर्य-ग्रहण हुआ था, तो कुछ देर हिसाब लगा कर इस प्रश्न का भी उत्तर तत्काल देदेगा। और इसी प्रकार अन्य ग्रहों की उदय अस्त आदि व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में भी वह यथार्थ उत्तर दे सकता है। खगोल-मण्डल की इतनी सूक्ष्म गतियों का ज्ञान उसे कभी न हो सकता, यदि वह इस विद्या के विशेषज्ञ विद्वानों के संसर्ग में न रहता।

इसी प्रकार प्रत्येक विषय में ज्ञानी आत्मा के संसर्ग से अज्ञानी आत्मा का ज्ञान बढ़ता हुआ देखा गया है। ठीक इसी न्याय के अनुसार, हमारा यह कथन भी सत्य मानना पड़ेगा, कि यदि आत्मा को इन ज्ञानियों की अपेक्षा,

और भी अधिक ज्ञानी आत्मा का सत्सङ्ग करने का अवसर मिले, तो वह अपने ज्ञान को और भी अधिक बढ़ा सकता है।

ज्ञानी जीवात्माओं की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनन्त तथा अपार है। यदि आत्मा को किसी प्रकार उस के सत्सङ्ग का अवसर मिल जावे, तो वह अपने ज्ञान को और भी अधिक बढ़ा सकता है। धृतिमन में तमोगुण और रजोगुण की मात्रा का अधिक होना ही एक ऐसी बाधा थी, जो आत्मा को भगवान् के सत्सङ्ग से वञ्चित रखती थी। अब इस में सत्वगुण के प्रधान होने पर, यह शीशा और भी स्वच्छ और निश्चल होगया; अतः आत्मा को अपने ही अन्दर विराजमान परमात्मा के ज्ञान की झांकी लेने का अवसर मिल गया। अब तो अपने स्वभाव के अनुसार, उस की सहायता से इस ने अपने ज्ञान को और भी अधिक बढ़ाना आरम्भ कर दिया। त्रिकालज्ञ, तत्वदर्शी, परम पुरुष का ज्ञान, जीवात्मा को अब अपनी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न कर रहा है। यदि उस की कृपा से जीवात्मा, यथार्थ तथा तीनों कालों के तत्वों का ज्ञान कर ले, तो इस में किसी को आपत्ति ही क्या होसकती है? इस अवस्था में धृतिमन भी, सहायक होने के कारण, अथवा उस के अपने अन्दर प्रविष्ट होने के कारण; अपने स्वामी आत्मा के ज्ञान से अपने आप को त्रिकालदर्शी कहले, तो यह भी कोई आपत्ति जनक बात नहीं। राज-मन्त्री भी तो अपने स्वामी के कोष को अनेकों बार अपना कहता है, यद्यपि वह राजा के इतना सन्निहित नहीं होता, जितना कि आत्मा के मन। उस का सम्बन्ध राजा से कल ही टूट सकता है, परन्तु यह आत्मा

के साथ मुक्ति पर्यन्त रहेगा।

यह प्रश्न किया जासकता है, कि परमात्मा का ज्ञान तो अनन्त है, तब क्या जीवात्मा भी अनन्त ज्ञान को प्राप्त कर अनन्त ज्ञान का भण्डार बन सकता है ? इस के उत्तर में हम निवेदन करेंगे कि 'नहीं'। आत्मा को उतने ही पदार्थों का ज्ञान होता है, जिन का उस की जीवन-चर्या के साथ दूर अथवा समीप का सम्बन्ध है। इसी लिये धृतिमन की शक्ति का वर्णन करते हुए इस मन्त्र में इसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञाता कहते हुए 'इदम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का सम्बंन्ध उन भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान पदार्थों के साथ है जिन का आत्मा को ज्ञान होता है। 'इदम्' कहने से जीवात्मा के सन्निहित वे पदार्थ ही समझे जासकते हैं, जिन के साथ उस का सम्बन्ध है। इस विषय का स्पष्टीकरण यजुर्वेद के एक मन्त्र में मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है :—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे,
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ।
यजुः अ. ३८ मं. २६

हे ऐश्वर्य के भण्डार भगवन् ! तेरे उन ग्रहण योग्य पदार्थों के अक्षय ज्ञान को, मैं अपने बल से, अपने अन्दर ग्रहण करता हूं, जो कि इस द्यु लोक में, और सातों समुद्रों सहित पृथिवी में फैले हुए हैं।

इस मन्त्र में 'ऊर्जा' पद से दो भाव झलकते हैं। एक तो यह कि जीवात्मा यह प्रकट कर रहा है, कि मेरी शक्ति

गुण प्रधान धृतिमन के स्वच्छ महासागर में से निकल कर चमकी हुई आत्मा के विशुद्ध ज्ञान की एक झलक है। ये घटित घटनाएं स्वच्छ धृतिमन, और उस में चमकते हुए विशुद्ध आत्मा में इसी प्रकार प्रतिबिम्बित होजाती हैं, जैसे कि स्वच्छ जल में चन्द्रमा।

जो विद्यार्थी अपने आप को अशक्त समझ अनन्त रत्नों के भण्डार संसार महासागर में गोता लगाने का यत्न नहीं करते, और किनारे पर खड़े होकर ही निराश लौट आते हैं, उन्हों ने अपने प्रत्यग्भान मन की शक्तियों का कभी स्वाध्याय ही नहीं किया। उन्हें निश्चय कर लेना चाहिये कि वे अशक्त नहीं हैं। उन के धृतिमन में शक्तियों का महान् स्रोत बह रहा है। वे अपने मन के स्वामी हैं, और अतएव उस की शक्तियों के भी। वे स्वयं एक शक्ति हैं-आत्म सत्ता हैं; और उन की शक्ति से ही उन का धृतिमन शक्ति प्राप्त कर रहा है।

उन्हें यह याद रखना चाहिये कि अपने आप को अशक्त कह, वे अपनी विद्यमान शक्तियों को भूल रहे हैं, और शक्तियों को ही नहीं अपने आप को भूल रहे हैं।

चन्द्रमा के चारों ओर, और सामने भी घटा छागई; वह अब हमारी दृष्टि से ओझल होगया, क्या वे इस दृश्य को देख कर यह कहने का साहस करेंगे, कि चन्द्रमा संसार से उठ गया-वह है नहीं? और यदि नहीं तो वे आत्म-चैतन्य के ऊपर छाई हुई अज्ञान की घटा के भ्रम में आकर, तत्काल ही यह क्यों कह बैठे हैं, कि हम अशक्त हैं।

हम मानते हैं कि वे इस समय अपने अन्दर अशक्ति का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु यह हम उन्हें निश्चय कहे देते हैं कि यह उन की अपनी चीज़ नहीं है, वे भूले हैं। उन्हों ने अशक्ति के भण्डार तम को अपना आपा समझ लिया है। उन का अपना आपा इस आकाश में नहीं, चौथे आकाश में है। यह तमोगुण का आकाश है, इस से आगे रजोगुण का, उस से आगे सत्वगुण का और उस से भी आगे उन के अपने आपे का आकाश है।

अब आप समझे होंगे कि जो आप यह कह रहे हैं कि हम अशक्त हैं, यह आप तमोगुण को अपना आपा समझ कर कह रहे हैं, वस्तुतः आप तमोगुण नहीं हैं। आप थोड़ा तप कीजिये; हाथ पैर हिलाइये, और तमोगुण के बादलों को छिन्न भिन्न कर दूर फेंक दीजिये। निश्चय ही ऐसा करने पर आप विवश यह कह उठेंगे, कि मैं अथक, परिश्रमी कर्म-वीर हूं। परन्तु आप को ध्यान रहे कि इस दूसरे आकाश में आकर, अब आप रजोगुण की भाषा में बोल रहे हैं। यह भाषा बुरी नहीं, परन्तु आप इस क्षेत्र से भी ऊंचे उठ सकते हैं। अपनी इस भाषा को मधुर और स्वरीली बना सकते हैं। आप इस भाषा में से अहङ्कार को निकाल देते हैं, और बोल उठते हैं :—

"केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"

कोई हृदय में बैठा हुआ देव जैसी प्रेरणा कर रहा है, वैसा कर रहा हूं।

यह आप की ध्वनि सत्वगुण के तीसरे आकाश में से

आई है। और इस भाषा को बोलते हुए आप यह अनुभव कर रहे हैं, कि जो शक्ति इस समय काम कर रही है, वह अपने आप नहीं, ऊपर के आकाश में बैठी हुई किसी और शक्ति की प्रेरणा से कर रही है। आप को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि यह चौथे आकाश में बैठी हुई प्रेरक शक्ति, वह ही आप का अपना आपा है। यह शक्तियों की शक्ति है, यह ही 'अहम्' है और यह ही स्वयं आप हैं। फिर बतलाइये तो सही कि भूलभुलैयां में आकर आप यह क्यों कह रहे हैं, कि मैं अशक्त हूं।

आप अपने आप को और भी अधिक अक्षय शक्ति का भण्डार अनुभव कर सकेंगे—यदि आप थोड़े और ऊंचे उठ कर पांचवें आकाश में दृष्टिपात करेंगे। अब आप यह देख सकेंगे, कि आप की अपनी इस आत्म-शक्ति के ऊपर, एक और विशाल शक्ति की किरणें बड़े वेग से आकर शक्ति की वर्षा कर रही हैं। पहिले आप अपने आप को अकेला अनुभव कर रहे थे, परन्तु अब आप अपने आप को एक विशाल शक्ति की छत्र-छाया के नीचे बैठे हुए पाएंगे। निश्चय ही इस महाशक्ति से आप को वह अक्षय शक्ति मिलेगी, जिसे आप निर्बल प्राणियों में बांट बांट कर थक जावेंगे, परन्तु यह समाप्त न होकर बढ़ती ही चली जावेगी। इस के बढ़ने में कारण तो स्पष्ट ही है कि यह, अक्षय शक्तियों के भण्डार से आ रही है। सम्भवतः आप समझ गये होंगे, कि यह पांचवें आकाश की महाशक्ति कौन है। यह वह ही, समय समय पर सारे संसार के, सर्जन, पालन और संहार की विधात्री जगत् प्रभु की ईश्वर शक्ति है। अब बतलाइये कि

क्या शक्तियों के ऐसे विशाल भण्डार का आश्रय पाकर भी, आप को यह कहने का कोई अवसर शेष है, कि 'मैं अशक्त हूं' ?

सम्राट् से पोषण पाने वाले मनुष्य का अपने स्वामी से किसी दूर स्थान पर चले आना, और वहां जाकर अपने स्वामी से सहायता का उपलब्ध न होना सम्भव है। परन्तु जिस सेवक ने, विश्व-सम्राट्, जगद्व्यापी, अन्तर्यामी, महान् आत्मा का आश्रय लिया है, वह उसे छोड़ कर दूर कैसे जा सकेगा; और उस की सहायता से वञ्चित कैसे रह सकेगा ? केवल उस के निकट जाने, और उस की अनुकम्पा प्राप्त करने तक, उस के पुरुषार्थ और तपश्चर्या की परीक्षा होती है।

हम विद्यार्थी महानुभावों से आग्रह करेंगे कि वे इस पहिली सीढ़ी पर पैर रक्खें, पग आगे बढ़ावें, वह स्थान दूर नहीं, जहां वे पहुंचना चाहते हैं और जो शक्तियों का महाभण्डार है। यह निश्चय है कि फिर वे न अपने आप को अशक्त पावेंगे, और न उन्हें यह कहने का अवसर मिलेगा कि 'हम अशक्त हैं'।

वे इस ओर भी ध्यान दें कि इस समय उन के हाथ में प्रत्यग्भान जैसा उन्नत साधन है। उस के होते हुए वे क्या कुछ कर सकते हैं, इस का निर्देश शब्दों में नहीं किया जा सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह शक्ति उन्हें मोक्ष के अन्तिम द्वार तक पहुंचा सकती है।

हम जब मार्ग से विचलित होने लगा करते हैं, तो

हमारी उस क्रिया को रोकने के लिये कुछ प्रेरणाएं आत्मा के क्षेत्र से आया करती हैं। मन के विक्षेप के समय हम उन प्रेरणाओं को अनसुनी कर दिया करते हैं। स्थिर न होने के कारण ही बुद्धि भी उन पर विचार नहीं कर सका करती, और इन शक्तियों के विक्षेप के काल में धृति भी उन्हें धारण कर, अपनी स्थिर सम्पत्ति बना, हमारे प्राण, मन और इन्द्रियों के कर्म-धारा-प्रवाह को उस ओर बहाने में सफल नहीं होसका करती। धृतिमन में सत्वगुण का विकास होने पर वे प्रेरणाएं सुनी जाने लगीं, और उन पर कार्य होने लगा। परन्तु अब 'प्रत्यग्भान' के कार्य-काल में तो वे आत्मिक प्रेरणाएं, हमारे इस मन का अङ्ग ही बन गई हैं। क्योंकि वे सब हमारे 'अहम्' के क्षेत्र से आरही थीं, और अब उस 'अहम्' का हमारे धृतिमन में साक्षात् ही विकास होचुका है, जिस के कि कारण उस ने अहङ्कार अथवा प्रत्यग्भान का पद पाया है।

कर्म-शील मनुष्य के मन की यह वह भूमिका है, जिस में पग रखने के अनन्तर उसे किसी उपदेश, अथवा शास्त्रों के सुझाव की आवश्यकता नहीं रहती। जब इस के मन में किसी कर्म को करने के लिये कोई भावना जन्म लेती है, और यह उसे महापुरुषों की कर्म-परम्परा, अथवा शास्त्रों की कसौटी पर परखने की चेष्टा करता है, तो जहां यह अपनी उस भावना में किसी दोष के मल का अवकाश नहीं देखता, वहां यह अपने मन की इस झङ्कार को शास्त्रों की ध्वनि के स्वर में बोलती हुई भी पाता है।

विद्यार्थी तथा अभ्यासी महोदय ध्यान दें, कि उन का 'प्रत्यग्भान' भ्रूतिमन का कैसा सुन्दर विकास है। इसे पाकर अब वे राजमार्ग पर सीधे दौड़ सकते हैं। आंखें बन्द कर लेने पर भी अब उन्हें ठोकर खाने का भय नहीं। मार्ग के भूल जाने का तो प्रश्न ही सामने नहीं आता। उन के विकट से विकट प्रश्न बात की बात में सुलझ जाते हैं। उन का कर्म-क्षेत्र फूलों की सुन्दर वाटिका बन जाता है। शोक, चिन्ता और असफलता को उन के इस क्षेत्र से बिस्तरा बोरिया बांध कर भागना पड़ता है। इस भूमिका में उन के सङ्कल्प और निश्चय अटल होते हैं; उन में परिवर्तन और झुकाव का कोई स्थान नहीं होता। यदि अपने इस अटल निर्णय के कारण उन्हें कहीं किसी महाशक्ति से टक्कर भी लेनी पड़े, और अभिमान के नशे में चूर हुई हुई वह शक्ति उन के अङ्गों को काट काट कर उन्हें छोटे छोटे परमाणुओं में बांटना आरम्भ करदे, तो भी उन के इस मन से भावित हुए, उन के हृदय का शेष रहा हुआ एक भी परमाणु, अपने उस अटल निर्णय की घोषणा, मधुर और गम्भीर गर्जना के स्वर में करता ही चला जावेगा।

हम उन से यह कह देना चाहते हैं, कि उन के इस मनोयन्त्र को, यह मनोरम तथा यथार्थ रूप उन के 'अहम्' ने दिया है। उस 'अहम्' ने जिसे कि वे आज तक भूले हुए थे। जिस की विचित्र शक्तियों को उन्हों ने मन और इन्द्रियों के गम्भीर सागर की चञ्चल तरङ्गों में फेंक कर अदृश्य कर दिया था। उन्हें ध्यान रहे कि उन की वह ही खोई हुई 'अहम्-चेतन सत्ता, उन के प्रत्यग्भान मन की कृपा से

प्रकट हुई है। उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि वह उन के हाथ से फिर न निकल जावे।

यहां विद्यार्थी यह प्रश्न कर सकते हैं कि धृतिमन में इस शक्ति के विकास का प्रकार और क्रम क्या है? उन के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम उन के सामने इसी मन्त्र का यह भाग उपस्थित करते हैं :—

"येन यज्ञस्तायते सप्त होता"

(जो सात होताओं का यज्ञ रचाता है)।

वाक्य का तात्पर्य यह है, कि धृतिमन जब मन, प्राण और पांच इन्द्रिय, इन सात शक्तियों को ऋत्विक् बना, अपने आप यजमान बन यज्ञ करना आरम्भ कर देता है, तब ही यह आत्मा की शक्ति को अपने अन्दर विकसाने में समर्थ होता है। यहां धृतिमन को छोड़ कर मन के शेष सब भागों को एक ही "मन" नाम दे दिया गया है। धृतिमन स्वयं यहां यजमान बना हुआ है, अतः उसे ऋत्विक् नहीं, यजमान कहा जावेगा। इस प्रकार मन, प्राण तथा पांच ज्ञान-इन्द्रिय (घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र), ये सात ऋत्विक् बने।

यहां सारे के सारे ज्ञान-इन्द्रिय ही ऋत्विक् और यजमान हैं, अतः इस यज्ञ को ज्ञान-यज्ञ कहना होगा।

इस यज्ञ का कुछ स्वरूप, सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न के उत्तर में, भगवान् पिप्पलाद ने प्रश्न उपनिषद् में प्रकट किया है। सौर्यायणि गार्ग्य के निम्न चार प्रश्न हैं, जिन का कि

उत्तर भगवान् पिप्पलाद ने इस चतुर्थ प्रश्न के प्रसङ्ग में दिया है। प्रश्न ये हैं :—

१—भगवन् ! इस पुरुष में कौन सोते हैं और कौन जागते हैं ?
२—कौन देव स्वप्न देखता है ?
३—यह सुख किसे होता है ?
४—सब किस में स्थिर होते हैं ?

इन में से पहिले प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद ने सुषुप्ति का वर्णन किया है। यहां पर 'देव' मन को कहा गया है, और सुषुप्ति में उस के साथ सब इन्द्रिय-देवों का एकीभाव कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति में सब इन्द्रिय-देवों की आहुति मनोदेव में पड़ जाती है, और उस के सहित ये सब देव सोजाते हैं। इस समय जागने वाला देव प्राण-देव माना गया है। फलतः यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में इन शक्तियों की आहुति आत्मा अथवा ब्रह्म में नहीं पड़ रही, प्रत्युत उन सब की पहुंच मन तक है, और मन भी तमोगुण में लीन होकर सो रहा है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में स्वप्न अवस्था का वर्णन किया गया है। इस अवस्था में प्राण को अग्नि और मन को यजमान कहा गया है। प्राण के प्रधान पांच भेदों को यहां भिन्न भिन्न अग्नि कल्पित किया गया है। जैसे कि अपान को गार्हपत्य, व्यान को अन्वाहार्यपचन, प्राण को आहवनीय और समान को–आहुतियों को सम भाग में बांटने वाला होने के कारण–समान ही, नाम दे दिया गया है। पांचवां प्राण उदान है और उसे इष्टफल का नाम देकर यह प्रकट

किया गया है कि इस अग्नि का यह–उदान–नाम अन्वर्थ है। यह इस मन यजमान को ऊंचे पद–ब्रह्म–में स्थिर होने के लिये लेजाना चाहता है, परन्तु मन वहां तक न पहुंच, मार्ग में ही चित्त पर खिंचे हुए अनेक संस्कारों के चित्रों को देख, उन्हीं में फंस जाता है; और स्वप्न देखने लग जाता है।

स्वप्न अवस्था भी एक यज्ञ था और यहां इन्द्रिय रूपी ऋत्विजों की तथा मन यजमान की पहुंच चित्त तक ही रही, वे आत्मा अथवा ब्रह्म में स्थिर न हो सके।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि 'सुख शरीर में शरीर के स्वामी आत्मा को होता है'। इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि 'यहां यह देव तेज से सम्पन्न होजाता है और स्वप्न नहीं देखता'।

स्वप्न न देखने का तात्पर्य यह है कि अब हमारे मनो-देव चित्त के क्षेत्र से आगे पहुंच गये हैं और चित्त से आगे का क्षेत्र है धृतिमन का। मन का धृति के अन्दर प्रवेश होजाने के बाद इस अवस्था में इन्द्रिय, मन और धृति, इन सब की आहुति आत्मा में पड़ती है। इस विषय को महर्षि ने इस प्रकार प्रकट किया है :—

"स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते"।

हे सोम्य ! जैसे पक्षी अपने निवास-स्थान वृक्ष पर आकर ठहर जाते हैं, इसी प्रकार ये सब, अपने से पर

आत्मा में स्थिर होजाते हैं। ये सब कौन हैं, इन की गणना करते हुए आगे चल कर, सब इन्द्रियों, उन के विषयों, और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार का नाम लिया गया है।

हम पहिले लिख आये हैं कि अहङ्कार धृतिमन का वह रूप है जिस में आत्मा के ज्ञान की झलक पड़ चुकी हो। और उसी ज्ञान की झलक के लिये यहां लिखा है, "तेजसाभिभूतो भवति" (तेज से सम्पन्न होता है)। यहां अहङ्कार अथवा प्रत्यग्भान मन की, सब इन्द्रियों और मानस तत्वों के साथ, आत्मा में प्रतिष्ठा का निर्देश, ज्ञान-यज्ञ के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन करा रहा है।

जब तक विषयों की इन्द्रियों में, इन्द्रियों की मन में, मन की धृति में और धृति की आत्मा में आहुति न पड़ेगी, तब तक ज्ञान-यज्ञ का कार्य-क्रम पूरा न होगा।

किसी वस्तु की किसी में आहुति पड़ने का अर्थ है, उस के स्वरूप में मिल जाना। जैसे कि अग्नि में जब घी और सामग्री आहुति बन कर पड़ जाते हैं, तो तत्काल ही वे अग्नि का रूप धारण कर प्रकट होजाते हैं। ठीक इसी प्रकार विषयों की आहुति इन्द्रियों में पड़ जाने पर उन्हें इन्द्रियों का स्वरूप धारण करलेना चाहिये। और इस अभेद-भाव का तात्पर्य यह होगा कि अब रूप और चक्षु, रस और रसना पृथक् नहीं रहे। जब रूप और रस का आस्वाद लेने वाला इन्द्रिय पृथक् नहीं रहा–रूप और रस उस के स्वरूप में ही प्रविष्ट होगये हैं–तो चक्षु और रसना को, रूप और

रस के पाने की इच्छा क्यों रहेगी? इस कामना के मिट जाने पर इन्द्रियों की चञ्चलता समाप्त होजावेगी। इन स्थिर तत्वों की आहुति जब मन में पड़ेगी, तो इसी विधि के अनुसार मन का भी स्थिर होजाना अनिवार्य होगा, और यह ही परिणाम मन की धृति में और धृति की आत्मा में आहुति पड़ने पर प्रकट होगा। धृति की प्रतिष्ठा जब आत्मा के स्वरूप में होगई, तो स्थिर हुए हुए धृतिमन में आत्मा के ज्ञान का प्रकट होना सम्भव है। आत्मा के इस आभास के कारण ही धृतिमन की इस अवस्था का नाम 'प्रत्यग्भान' हुआ है, और यह ही ज्ञान-यज्ञ का उद्देश्य था। पांचों इन्द्रियों, मन और प्राण इन सातों होताओं ने इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही ज्ञान-यज्ञ को रचाया था। और इस यज्ञ की पूर्ति उन्होंने अपनी चञ्चलता को दूर कर, स्थिर होते हुए अपने से ऊपर के तत्व में प्रविष्ट होकर की है। इस यज्ञ के पूर्ण होते ही इस शरीर में आत्मा सुख का अनुभव करने लगेगा, इस में कोई सन्देह ही नहीं। क्योंकि स्थिति के परिणाम धैर्य और सन्तोष हैं, और ये दोनों ही आत्मा को सुख देने वाले हैं। इसी प्रसङ्ग में आगे चल कर भगवान् पिप्पलाद ने आत्मा की भी पर आत्मा में आहुति डालने का विधान किया है, और यह ही चौथे प्रश्न का उत्तर है। परन्तु यह विषय विश्वभान का है अतः इस का विवेचन उसी के प्रकरण में चल कर किया जावेगा।

ज्ञान-यज्ञ का ऐसा ही वर्णन गीताकार ने भी किया है। उन्होंने लिखा है :—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
गीता अ. ४ श्लोक २७

कोई याज्ञिक लोग इन्द्रियों और प्राणों की सब क्रियायों की आहुति, आत्म-संयम से प्रदीप्त हुई हुई योग की अग्नि में डालते हैं ।

इस प्रकार सभी आचार्यों के मत में, अपनी अध्यात्म शक्तियों की, आत्मा में प्रतिष्ठा को ही ज्ञान-यज्ञ कहा गया है ।

यहां तक हम ने विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों के लिये, प्रत्यग्भान मन की शक्तियों तथा उन के विकास के शास्त्रीय साधनों का वर्णन किया है । अब हम व्यवहार के क्षेत्र में चल कर उन से दो बातें करना चाहते हैं ।

वे प्रश्न कर सकते हैं, कि शरीर-यात्रा के लिये इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन आवश्यक है, और इस कार्य का सम्पादन करने के लिये विषयों की चाह तथा इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति भी अनिवार्य है । अब यदि इन्द्रियों की इस क्रिया का नाम ही चञ्चलता है, तो शरीर के रहते हुए इसे कैसे रोका जासकता है ?

यह ठीक है कि शरीर की रक्षा के लिये इन्द्रियों का प्रयोग कर विषयों का प्राप्त करना आवश्यक है । परन्तु इस प्राप्ति के प्रकार में अधिकार के अनुसार अन्तर पड़ जाता है । कुछ ऐसे मनुष्य हैं जिन के इन्द्रिय विषयों के सौन्दर्य तथा उन के मिठास के कारण विषयों की चाह और उन की प्राप्ति

के लिये दौड़-धूप करते हैं। इस लालसा से विषयों के ग्रहण में लगे हुए इन्द्रिय, उन्हें इतनी अधिक मात्रा में ग्रहण कर लेते हैं कि शरीर रोगी होजाता है। और इस के साथ ही इन की इस आपा-धापी से दूसरे भी अपने अधिकार से वञ्चित रह जाते हैं।

संसार में इस प्रकार के मनुष्य भी देखने में आते हैं जो इस लिये किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहते कि वह उन्हें सुन्दर या मधुर लग रही है, प्रत्युत वे गुण और दोष की दृष्टि से परीक्षा कर, शरीर की रक्षा के लिये उपयोगी तथा अत्यन्त आवश्यक वस्तु का ग्रहण किया करते हैं। इस प्रकार के उपयोगी तथा आवश्यक पदार्थ, कड़वे हैं, मीठे हैं, सुन्दर हैं या विरूप हैं, इस प्रकार की विशेषताएं उन की विचार-धारा से सदा ही दूर रहा करती हैं। ये लोग अपनी शरीर-यात्रा के लिये उतनी ही—थोड़ी से थोड़ी—वस्तु ग्रहण करते हैं कि उस का प्रभाव किसी दूसरे के अधिकार पर थोड़ा भी आघात नहीं पहुंचाता।

हम ने यहां विषयों का ग्रहण करने के लिये इन्द्रियों का प्रयोग करने वाले दो प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख किया है। विद्यार्थी गम्भीरता से ध्यान देंगे तो, वे हमारे इस मत को अवश्य स्वीकार करेंगे, कि इन में दूसरी श्रेणी के अधिकारी अधिक उत्तमता से शरीर की रक्षा कर रहे हैं। इन के द्वारा विषयों का ग्रहण इन के शरीर के लिये लाभ-दायक सिद्ध होरहा है, इन्द्रियों की विषय-लालसा के प्रवाह में बांध लगा रहा है, मन के विक्षेप को शान्त कर रहा है और

प्रत्येक मनुष्य को उस के अधिकार की वस्तु का प्रदान कर, संसार में शान्ति और व्यवस्था का मनोहर दृश्य उपस्थित कर रहा है।

विद्यार्थी अब समझ गये होंगे कि हम उन के सामने कोई ऐसा कार्य-क्रम नहीं रख रहे जो व्यवहार के क्षेत्र में पहुंच कर असम्भव प्रतीत हो। हम यहां निर्दिष्ट किये गये प्रथम श्रेणी के मनुष्यों को दूसरी श्रेणी के मनुष्यों के सदृश कार्य-क्रम की ओर आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा कर रहे हैं।

जिस प्रकार पहिली श्रेणी के मनुष्य प्रयत्न कर, दूसरी श्रेणी के मनुष्यों के कार्य-क्रम को, क्रमशः उन्नति करते हुए अपना सकते हैं; इसी प्रकार दूसरी श्रेणी के मनुष्य, अपने कार्य-क्रम को और भी नियमित तथा उदार बना, अपने मन को शान्त, स्थिर और सत्व-प्रधान बना सकते हैं।

एक मनुष्य पर्वत के नीचे भूमि पर खड़ा है, और यह अभिलाषा कर रहा है कि "मैं भी पर्वत की उस ऊंची चोटी पर चढ़ कर, जिस पर कि वह मनुष्य चढ़ा हुआ है, चारों ओर के सुहावने दृश्य देखूं। और ठण्डे तथा सुगन्धित वायु का आनन्द लूं"। तत्काल ही उस के मन में यह विचार आता है कि "यह चोटी बहुत ऊंची है, इतनी चढ़ाई में कैसे चढ़ सकूंगा?"। और यदि यह ही विचार उस के मन में और भी गम्भीर रूप धारण कर लेता है, तो विवश उसे यह कहना पड़ जाया करता है कि "मेरा इस पर्वत पर चढ़ना असम्भव है"। यद्यपि पर्वत की चोटी पर चढ़ना असम्भव नहीं, क्योंकि दूसरा मनुष्य, जो चोटी पर खड़ा

है, वह भी चढ़ कर ही वहां पहुंचा है। परन्तु जिस मनुष्य ने कायरता-पूर्ण भावनाओं से अपनी विचार-धारा को उपर्युक्त प्रकार से निर्बल बना दिया है, उस का उस चोटी पर चढ़ना, असम्भव ही हो जावेगा।

ठीक इसी प्रकार जो अभ्यासी विषय की लालसा का छूटना असम्भव समझ, हार मान कर बैठ जावेगा, उस के लिये उस कार्य-क्रम की ओर एक पग भी उठाना कठिन हो जावेगा। उसे अपनी शक्तियों पर विश्वास करना चाहिये, और उसे समझ रखना चाहिये कि किसी बड़े से बड़े फल को लक्ष्य में रख कर आरम्भ किये गये किसी भी कार्य-क्रम का आरम्भिक रूप बहुत छोटा होता है। अतः 'इस थोड़ी सी सामग्री से मैं इतना बड़ा फल कैसे पा सकूंगा ?' इस धारणा के सामने आने पर उसे घबरा न जाना चाहिये। वर्ण-माला की चार पृष्ठों की पुस्तक भी कठिनाई से पढ़ने वाला छात्र, शास्त्री-परीक्षा की पुस्तकों का ढेर का ढेर देख कर घबरा जा सकता है, परन्तु क्रम से श्रेणीवार आगे बढ़ता हुआ, शास्त्री-कक्षा में पहुंच कर वह उन पुस्तकों को पढ़ लेना सुकर समझेगा। ठीक इसी प्रकार किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिये भी हमें क्रमवार चलना होगा। और क्रम, कठिन से कठिन कार्य को भी सरल बना दिया करता है।

जो विद्यार्थी विषयों की इन्द्रियों में आहुति अर्थात् विषय की लालसा का त्याग, असम्भव समझ रहा है, उसे यह समझ लेना चाहिये कि वह इस कार्य-क्रम की प्रथम

कक्षा में प्रविष्ट होने के लिये आया है; फल के महत्व की ओर देख कर उसे घबरा न जाना चाहिये । 'फल के ऊंचे शिखर से लगी हुई हज़ार डण्डों वाली सीढ़ी का अन्तिम डण्डा उस के हाथ न लग सकेगा' इस निराशा की धारणा को उसे तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये । और इस धारणा को प्रबल कर लेना चाहिये कि "मैं क्रम से एक के बाद दूसरे डण्डे पर चढ़ता हुआ अन्तिम डण्डे तक अवश्य पहुंच जाऊंगा। मैं आत्मा हूं, शक्तियों का भण्डार हूं, शक्तियों के महाभण्डार प्रभु का हाथ मेरे सिर पर है, फिर संसार में मेरे लिये असाध्य कार्य है ही कौन सा ? मैं सफल हूंगा, और अवश्य सफल हूंगा" ।

हम विद्यार्थियों को केवल बातों से मनाना नहीं चाहते हमारे पास वास्तविक-ऐतिहासिक-घटनाएं हैं, हम ऐसे महापुरुषों के नाम जानते हैं, जो विषयों की लालसा को ठोकरें मारते हुए आगे बढ़, आत्मा के क्षेत्र तक सीधे पहुंच गये हैं। इस के लिये आप महाराज जनक, जड़भरत, शुकदेव, पितामह भीष्म, ऋषि दयानन्द, महात्मा टालस्टाय, महात्मा गान्धी आदि महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ सकते हैं। आप यह जान कर प्रसन्न होंगे कि इन सब महापुरुषों के जीवन का निर्माण इन के अपने ही हाथों हुआ है। ये सब प्रत्यग्भान अथवा अहङ्कार के धनी थे । अहम् की शक्तियों को समझ, स्वाभिमान अथवा स्वावलम्बन का पाठ उन्हों ने भली भांति पढ़ा था, और उन का यह पाठ ही उन के जीवन के सौन्दर्य का कारण बना है। हम प्रेरणा

करेंगे कि विद्यार्थी इन महापुरुषों का अनुकरण करते हुए अपने अहङ्कार से पूरा लाभ उठाने का यत्न करें।

इस प्रसङ्ग में हम ने मन के एक भाग-प्रत्यग्भान-के सम्बन्ध में कुछ विचार संक्षेप से प्रकट किये हैं। हम आशा करते हैं कि विद्यार्थी लोग इस विचार-धारा का मनन करते हुए आचार के क्षेत्र में खड़े होकर इसे व्यावहारिक रूप देंगे।

विश्वभान-मन

पहिले प्रसङ्ग में हम धृतिमन के एक भाग-प्रत्यग्भान-का वर्णन कर आए हैं, इस प्रसङ्ग में उसी के एक दूसरे भाग-विश्वभान-का वर्णन किया जावेगा। प्रत्यग्भान आत्मिक विभूतियों का केन्द्र है और विश्वभान ईश्वरीय विभूतियों का।

धृतिमन में आत्मा का प्रकाश पड़ते ही उस में सत्व-गुण और भी उन्नत होने लग जाता है, स्थिरता बढ़ती है, आत्मा की शक्तियों का आभास पड़ने लग जाता है और अब वह उन कार्यों को करने में सफल होजाता है, जिन का कि वर्णन प्रत्यग्भान के प्रकरण में किया गया है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि धृतिमन में आत्मिक अथवा ईश्वरीय शक्तियों का प्रकाश होते ही चित्त, बुद्धि आदि मन के सब ही अङ्ग, उस प्रकाश से चमक उठते हैं; क्योंकि मन वस्तुतः एक ही तत्व है। विभिन्न स्थानों में विभिन्न कार्य करने के कारण तथा साधन भिन्न होने के कारण उस के ये सब नाम पड़े हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने आत्म-दर्शन होजाने पर उस के फल का वर्णन इस प्रकार किया है :—

ततः प्रातिभश्रवणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते । यो. ३।३६

जिसे आत्म-दर्शन होता है, उस के चित्त में प्रातिभ-शक्ति प्रकट होजाती है, और उस से सूक्ष्म, छिपी हुई, दूर की और भूत वस्तुओं का ज्ञान होने लग जाता है; श्रावण-शक्ति का उदय होता है और उस से दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं, वेदना-शक्ति का उदय होता है और उस से विचित्र स्पर्शों का अनुभव होने लगता है, आदर्श-शक्ति का उदय होता है और उस से दिव्य रूप दिखाई देने लगते हैं, आस्वाद शक्ति का उदय होता है और उस से दिव्य रसों का ज्ञान होने लगता है तथा वार्ता-शक्ति का उदय होता है और उस से दिव्य गन्ध आने लग जाता है।

यहां विद्यार्थी तथा अभ्यासी प्रश्न कर सकते हैं कि चित्त में इन शक्तियों का प्रादुर्भाव, आत्मा के प्रकट होने पर ही क्यों हुआ, पहिले क्यों नहीं हुआ ?

इस का उत्तर स्पष्ट है कि ये सब शक्तियें आत्मा में ही विद्यमान हैं। इन्द्रियों ने भी ये शक्तियें आत्मा से ही प्राप्त की थीं। और यह ही कारण है कि इन्द्रियों तथा शरीर के न रहने पर भी आत्मा अपनी इन शक्तियों से इन सब विषयों का अनुभव कर लेता है। स्वप्न में भी विषयों के आनन्द का अनुभव करने वाली आत्मा की ये शक्तियें ही हैं। वहां न विषय हैं, न इन्द्रिय काम कर रहे हैं, वहां केवल धृतिमन और उस में प्रकट हुई हुई आत्मा की ये

शक्तियें ही विषयों के अनुभव का साधन हैं।

इस लिये जब कि ये सब आत्मा की ही शक्तियें हैं तो आत्मा के धृति तथा चित्त में प्रकट होने पर उन शक्तियों का भी प्रादुर्भाव होना ही चाहिये था। और धृति तथा चित्त अब स्वच्छ एवं स्थिर हैं, अतः आत्मा की ये शक्तियें भी अपने विशुद्ध उज्ज्वल रूप में प्रकट हुईं और दिव्य विषयों का अनुभव कराने लगीं। यह धृति के प्रत्यग्भान काल की भूमिका थी।

विश्वभान का क्षेत्र इस से आगे चल कर आरम्भ होता है। आत्म-दर्शन मात्र ही मनुष्य का ध्येय नहीं है, वह और भी अधिक समाधि-अवस्था में पहुंच, परम पुरुष के दर्शन कर, आनन्द के महान् अमृत का पान करना चाहता है, आत्मा की प्राप्त की हुई ये शक्तियें उस के मार्ग में प्रतिबन्धक हैं, अतः वह इन से भी पीछा छुड़ाने की इच्छा करता है। ये किस प्रकार प्रतिबन्धक हैं, इस के लिये ऋषि पतञ्जलि ने कहा है :—

ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः। यो. ३।३७

ये आत्मा की विभूतियें उखड़े हुए चित्त के काल में ही सिद्धियें कही जा सकती हैं–लाभदायक प्रतीत होती हैं। समाधि-अवस्था को प्राप्त करने में तो चित्त के मार्ग में ये प्रतिबन्धक होती हैं। तात्पर्य यह है कि दिव्य विषयों का अनुभव होते रहने पर चित्त स्थिर न होगा और समाधि लग न सकेगी। इस लिये विश्वभान का क्षेत्र धृति के और भी अधिक स्वच्छ होने पर आरम्भ होता है। उस समय

मन केवल स्वच्छ ही नहीं होजाता, वह प्रकृति और पुरुष का विवेक करने में भी समर्थ होजाता है, जिस के लिये ऋषि पतञ्जलि ने कहा है :—

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च । यो. ३।४९

जब प्रकृति और पुरुष का पृथक् अनुभव होने लगता है तो आत्मा अपने आप को सब भावों का अधिष्ठाता और सब ज्ञानों का आधार मानता है। सब भावों के अधिष्ठाता, तथा सर्वज्ञ परम पुरुष भगवान् हैं। धृति मन में भगवान् के इन गुणों का आभास पड़ने पर ही उसे विश्वभान नाम मिला है। सब ज्ञान उस में किस प्रकार प्रकट होते हैं इस का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण इस मन्त्र में किया गया है :-

यस्मिन् ऋचः सामयजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के ज्ञान इस प्रकार ओत-प्रोत हैं, जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे। और जिस में सब प्राणियों के चित्त भी ओत-प्रोत हैं, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्पों से पूर्ण हो।

विद्यार्थी तथा अभ्यासी महानुभाव इस मन्त्र के अर्थ की गहराई में जाकर इस का मनन करें, और फिर अपने जीवन के उस महान् लक्ष्य के चमकते हुए उस चित्र की

ओर दृष्टिपात करें, जो इस मन्त्र में खींचा गया है। हम यहां उन्हीं के शब्दों में इस चित्र का वर्णन करते हैं :–

"अहो ! मैं चमक उठा हूं। मेरी यह दिव्य ज्योति आकाश-मण्डल में फैलती चली जा रही है। अब तो यह विश्व के सारे ही पदार्थों के अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रविष्ट होगई है। मुझे इस ज्योति-पुञ्ज में तत्वों के गुण और दोष चमकते हुए स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। विश्व-नियन्ता के सृष्टि-नियम का रहस्य तो मेरी इस दिव्य दृष्टि के प्रकाश में आज ही खुला है। मैं कैसा भोला था, नित्य 'मैं मैं' कहा करता था, परन्तु वह 'मैं' कहां है और कैसा है, इसे जानता ही न था। मैंने आज देखा कि एक विश्व-व्यापी 'मैं' के सूर्य की गोद में मेरे 'मैं' का छोटा सा अग्नि-कण खेल रहा है। मैं अपने एक छोटे से सांसारिक आनन्द के फूल को चारों ओर से दुःख के भयङ्कर कांटों की बाड़ से घिरा हुआ पाता था। परन्तु आज तो उन कांटों का नाम ही संसार से उठ गया। जिधर देखता हूं मेरे आनन्द के फूल ही फूल खिले दिखाई देते हैं। मेरी इस दिव्य दृष्टि के प्रकाश में, सत्य और असत्य, कर्तव्य और अकर्तव्य, प्रकृति और पुरुष पृथक् भिन्न श्रेणियों में खड़े दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

"मैं पहिले अपने ही चित्त के अक्षरों को पढ़ा करता था, परन्तु अब तो प्राणिमात्र के चित्तों के पत्र पढ़े जा रहे हैं। कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे चित्त मेरे चित्त से आ मिले हैं, या मेरा चित्त उन से जा मिला है। परन्तु मैं इन सब चित्तों से पृथक् हूं, इन का शासक हूं, और मेरे

अन्तरात्मा की दिव्य विभूतियें मेरी ओर दौड़ी आ रही हैं। मैं शक्तियों का केन्द्र हूं और स्वयं शक्ति हूं।"

यह वह सुख-स्वप्न है जिसे कि एक विद्यार्थी तथा अभ्यासी इस मन्त्र का मनन कर अपने जीवन के जीवित जागृत लक्ष्य के रूप में देख सकता है। इस वास्तविक भावना-तरङ्ग का सुहावना रूप उस के मन को लुभाए बिना न रहेगा। और यदि उस ने अपनी जीवन-यात्रा में अपने इस लक्ष्य को भुलाया नहीं, और अपने कार्य-क्रम को उसी दिशा की ओर गतिशील बनाये रक्खा, तो वह अपने आप को इस मनोहर भूमिका में कभी न कभी अवश्य खड़ा पावेगा।

विद्यार्थी प्रश्न कर सकते हैं कि "जो मनुष्य देव-वाणी नहीं जानता, परन्तु प्रभु-चिन्तन में उस का आसन पढ़े लिखे विद्वानों से बहुत ऊंचा है, प्रभु-चिन्तन के समय आसन लगाते ही वह अपने शरीर को और अपने आप को भी भूल जाता है, प्रसन्नता उस के मुख से कभी दूर नहीं होने पाती, बाहर के बड़े से बड़े आघात भी उस के मन को ध्यान से विचलित नहीं कर सकते। इन सब लक्षणों से समझ में आजाता है कि भगवान् की परम ज्योति और उस के परमानन्द की प्रसादी उसे मिल चुकी है, जो कि उसे डोलने नहीं देती। ऐसी अवस्था में तो उस के मन में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद प्रकट होजाने चाहियें; परन्तु उन का प्रकट होना तो दूर रहा, वह तो दूसरे के उच्चारण किये गये वेद-मन्त्र का अर्थ भी नहीं समझ सकता। बतलाइये इस में क्या रहस्य है?"।

प्रश्न यथार्थ भी है और युक्ति-सङ्गत भी। इस में कोई सन्देह नहीं कि भगवान् के ज्ञान की झलक जिस अन्तःकरण में पड़ चुकी, उस में वेद-ज्ञान का उदय होना चाहिये। परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वेद-मन्त्रों के अक्षरों की आनुपूर्वी और उन के शब्दों का अर्थ भी उसे अवश्य ही आना चाहिये। वह अपने अन्तःकरण में उदय हुए वेद-ज्ञान को अपनी उसी भाषा में, जिसे वह जानता है, प्रकट कर सकता है। वेद-मन्त्रों की उस प्रकार की भाषा और मन्त्रों के अक्षरों के वेदानुसारी क्रम की आवश्यकता तो भगवान् को है, जो थोड़े से शब्दों में विशाल ब्रह्माण्ड के ज्ञान को, गागर में सागर की भांति भरते हैं। अथवा इस सारे शब्दार्थ-विज्ञान की आवश्यकता उन महर्षियों को होती है जो सृष्टि के आरम्भ में भगवान् के उस ज्ञान को अपने आत्मा में ग्रहण कर दूसरों के ऊपर प्रकट करते हैं। इस विशाल ब्रह्माण्ड के ज्ञान का थोड़े ही शब्दों में कहा जाना, देव-वाणी और वेद-मन्त्रों के क्रम के बिना सम्भव नहीं। क्योंकि यहां एक एक मन्त्र कई कई अर्थों का प्रकाश कर, कई विषयों का ज्ञान अपने उन्हीं शब्दों से देता हुआ भगवान् की अद्भुत रचना का परिचय दे रहा है। अनपढ़ योगी के अन्तःकरण में भी भगवान् के उसी ज्ञान का उदय हुआ है, जिसे वेद कहते हैं। वह भी अपने प्राप्त किये हुए उस ज्ञान का प्रकाश करता है, परन्तु प्रकाश करने के लिये भाषा उस की अपनी है। कई ऐसे अभ्यासी महानुभाव सुने गये हैं, जिन के प्रकट किये हुए भाव प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। और ऐसे भाव, जिन का विद्वान् लोगों को भी ज्ञान न था, और उन

भी, बुलाने पर इस प्रकार बोला करता है, मानो बुलाने पर ही गहरी नींद से जागा हो। अपने शरीर पर लगे हुए बड़े से बड़े आघात भी उस के मुख की प्रसन्नता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका करते।

शरीर के, बाणों से चलनी चलनी होजाने पर भी, पितामह भीष्म पाण्डवों को, प्रसन्न होकर उपदेश देते देखे गये। जनक यह कहते सुने गये कि 'मेरी सारी मिथिला भस्म होजावे, तब भी मेरा सर्वस्व मेरे पास रहेगा'। रोम रोम पर घाव होते हुए भी विद्यार्थी गुरुदत्त, ऋषि दयानन्द के मुख की प्रसन्नता को देख कर चकित रह गये।

इस प्रकार ऐसे महापुरुषों के मुख की आकृति ही उन को मिली हुई आत्म-प्रसादी की सूचना दे रही होती है।

भगवान् ने मनुष्य की आकृति को ऐसे वैज्ञानिक ढङ्ग से बनाया है कि वह मनुष्य के मानसिक भावों को छिपने नहीं देती। काम, क्रोध, भय, चिन्ता, आह्लाद आदि भावों के मन में उदय होते ही, उन का भिन्न भिन्न प्रकार का चित्र हमारी आकृति पर खिंच जाया करता है। साधारण मनुष्य भी आकृति के इस चित्र को देख कर मनुष्य के मन के बहुत से हाव भाव समझ लेते हैं। परन्तु मनोविज्ञान के पण्डित तो इस आकृति-विज्ञान के बल से मनुष्य के मन के अधिकांश पटलों का स्वाध्याय करने में सफल होजाते हैं। कई अवस्थाओं में पशु-पक्षी भी आकृति के निरीक्षण से मनुष्य के भावों का स्वाध्याय करते देखे गये हैं। इस लिये जिस मनुष्य के अन्तःकरण में भगवान् की विभूतियों का प्रकाश

भी, बुलाने पर इस प्रकार बोला करता है, मानो बुलाने पर ही गहरी नींद से जागा हो। अपने शरीर पर लगे हुए बड़े से बड़े आघात भी उस के मुख की प्रसन्नता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका करते।

शरीर के, बाणों से चलनी चलनी होजाने पर भी, पितामह भीष्म पाण्डवों को, प्रसन्न होकर उपदेश देते देखे गये। जनक यह कहते सुने गये कि 'मेरी सारी मिथिला भस्म होजावे, तब भी मेरा सर्वस्व मेरे पास रहेगा'। रोम रोम पर घाव होते हुए भी विद्यार्थी गुरुदत्त, ऋषि दयानन्द के मुख की प्रसन्नता को देख कर चकित रह गये।

इस प्रकार ऐसे महापुरुषों के मुख की आकृति ही उन को मिली हुई आत्म-प्रसादी की सूचना दे रही होती है।

भगवान् ने मनुष्य की आकृति को ऐसे वैज्ञानिक ढङ्ग से बनाया है कि वह मनुष्य के मानसिक भावों को छिपने नहीं देती। काम, क्रोध, भय, चिन्ता, आह्लाद आदि भावों के मन में उदय होते ही, उन का भिन्न भिन्न प्रकार का चित्र हमारी आकृति पर खिंच जाया करता है। साधारण मनुष्य भी आकृति के इस चित्र को देख कर मनुष्य के मन के बहुत से हाव भाव समझ लेते हैं। परन्तु मनोविज्ञान के पण्डित तो इस आकृति-विज्ञान के बल से मनुष्य के मन के अधिकांश पटलों का स्वाध्याय करने में सफल होजाते हैं। कई अवस्थाओं में पशु-पक्षी भी आकृति के निरीक्षण से मनुष्य के भावों का स्वाध्याय करते देखे गये हैं। इस लिये जिस मनुष्य के अन्तःकरण में भगवान् की विभूतियों का प्रकाश

होचुका है, उस का पहिचान लेना कोई कठिन कार्य नहीं।

यह प्रश्न किया जासकता है कि अन्तःकरण के इस पटल तक पहुंचने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

सम्भवतः विद्यार्थी लोग इस प्रश्न को अपने लिये समय से पहिले की बात समझें, परन्तु अभ्यासी लोग तो इसे अपने अधिकार की वस्तु ही मानेंगे।

यद्यपि यह प्रश्न विद्यार्थी के भी अधिकार से बाहर नहीं जाता, क्योंकि इस समय जहां उस ने विद्याध्ययन के कार्य-क्रम को आरम्भ किया हुआ है, उस के साथ ही चरित्र-निर्माण भी उस के कार्य-क्रम का एक प्रधान अङ्ग है। चरित्र-निर्माण कुछ विशेष ढङ्ग के मानसिक परिवर्तनों का नाम है, और उन परिवर्तनों के लिये प्रयुक्त किये गये साधनों का भगवत्प्राप्ति के साधनों से किसी अवस्था में भी भेद नहीं किया जा सकता। फलतः यह प्रश्न क्रमिक कार्य-क्रम को ध्यान में रखते हुए विद्यार्थी के अधिकार से भी बाहर नहीं जाता। उसे भी तो अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य-रूपी भवन का निर्माण करने के लिये, उस की आधार-शिला, कार्य-क्षेत्र में उतरने के साथ अभी से रखनी होगी। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि विद्याध्ययन के साथ चरित्र-निर्माण के कार्य-क्रम का निर्वाह करते हुए विद्यार्थी को भी अपने इस कार्य-क्रम का सीधा झुकाव अपने आध्यात्मिक विज्ञान के विकास की ओर ही रखना होगा। तब ही तो वह क्रम से उन्नति करता हुआ अन्त में अपने परम ध्येय तक पहुंचने में समर्थ हो सकेगा।

यहां विद्यार्थी के अधिकार का प्रसङ्ग से उल्लेख कर दिया गया है। अब हम प्रश्न के उत्तर के लिये कुछ निर्देश करेंगे।

हम पहिले लिख आये हैं कि मन, प्राण और इन्द्रियों की सब क्रियाओं का नियन्त्रण धृतिमन करता है, परन्तु यह कार्य वह कर सकता है, सात्विक और योग-युक्त होकर। मन के विभिन्न पटलों को सात्विक बनाने के क्या उपाय हैं, उन का निर्देश हम इस पुस्तक में कई स्थानों पर कर आये हैं—स्वयं धृति के प्रकरण में भी इस विषय पर विचार किया गया है। यहां हम धृतिमन के एक व्यापार "योग-युक्ति" का (जिस के अनुष्ठान से उस ने प्रत्यग्भान का पद पाया था, और विश्वभान के पद को प्राप्त करने का यत्न कर रहा है,) स्पष्टीकरण करेंगे।

'योग-युक्ति' का यदि हम संक्षेप से निर्वचन करना चाहें तो "सावधानता से एक लक्ष्य पर दृष्टि" इतना कह देना पर्याप्त होगा। इस युक्ति का एक साधारण लौकिक दृष्टान्त देकर मुण्डकोपनिषद् में बड़ा सुन्दर व्याख्यान किया गया है। प्रश्न था कि ब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त किया जावे? उस के उत्तर में ऋषि लिखते हैं :—

प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत् ॥

मुण्डक २, खं. २, मं. ४ ।

ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है;

सावधान होकर लक्ष्य-वेध करो। धनुर्धारी की भांति तुम भी अपने लक्ष्य में तन्मय होजाओ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक धनुर्धारी, अपने मन, नेत्र, हाथ, धनुष सब को एक रेखा में कर, सब कुछ भुला, एक मात्र लक्ष्य को ध्यान में रख, तन्मय हो जाता है; ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-क्षेत्र में सफलता के अभिलाषी विद्यार्थी को भी—यदि वह ब्रह्म की विभूतियों को अपना लक्ष्य बनाना चाहता है—प्रणव अर्थात् ओम् के धनुष पर आत्मा-रूपी बाण को चढ़ा, ब्रह्म-रूपी लक्ष्य की सम रेखा में, एक-तान कर, तन्मय होकर छोड़ देना चाहिये। इसी का नाम है 'योग-युक्ति'।

आत्मा को बाण बनाया गया है, और यहां आत्मा तथा उस के सहयोगी सब साथियों को एक 'आत्मा'-नाम से कहा गया है। इन सहयोगी शक्तियों के एक पङ्क्ति में खड़े होने का क्रम यह है—आत्मा, धृति, मन, प्राण, इन्द्रिय। आत्मा अपनी इच्छा-शक्ति की तरङ्ग धृतिमन में बहा देता है, अब उस की इच्छा, धृति को ब्रह्म की ओर एकतान करने के अतिरिक्त और कुछ न होगी। इस समय धृति को आत्मा का सहयोग भी बिना कठिनाई के मिल सकेगा, क्योंकि उस ने पहिले ही प्रत्यग्भाव का रूप धारण कर आत्मा की शरण लेली हुई है। धृति की यह तरङ्ग आत्मा में से होती हुई ब्रह्म की ओर बहेगी, क्योंकि आत्मा ने उसे अपनी इच्छा-शक्ति से अपनी ओर खींच लिया है। धृति अपने प्रभाव और आकर्षण से बाहर की ओर बहते हुए मन

और प्राण के प्रवाह को अपनी ओर बहा लेगी, और इस प्रवाह के उलट जाने पर इन्हीं के सहारे पर चलने वाले इन्द्रियों का इन की ओर चल पड़ने के अतिरिक्त चारा ही क्या होगा। अब रह जाती है तन्मय होजाने की बात। आत्मा में ब्रह्म-प्राप्ति की उत्कट इच्छा का उत्पन्न होना ही तन्मय होना है। अपने अन्दर इस उत्कट इच्छा को उत्पन्न करने के लिये, एकान्त में बैठ, अपने आप को ही श्रोता बना, अपने ही लिये आत्मा का अपना दिया हुआ उपदेश सुनिये :-

हे अहम्! मैं जानता हूं इस अध्यात्म जगत् में तुम्हारा आसन बहुत ऊंचा है। तुम प्रत्येक कार्य में अपनी विवशता का राग अलापने लग जाते हो। कहा करते हो, 'मैं क्या करूं, बुद्धि बिगड़ गई, मन नहीं मानता, कितना ही यत्न करूं इन्द्रिय रोकने से नहीं रुकते'। भला तुम सोचो तो सही तुम्हारा यह आलाप ठीक है? तुम्हारे ये सब सहयोगी जड़ हैं, और तुम हो चेतन। क्या तुम्हारा यह कथन इस कथन के समान नहीं कि ईंट-पत्थर मनुष्य को पकड़े लिये जा रहे हैं? मैं मानता हूं कि ये सब तुम्हारे चिरकाल से सहकारी हैं, और इस समय बड़े शक्ति-शाली हैं। ये बीसों बार तुम्हारी इच्छाओं की उपेक्षा कर विपरीत मार्ग में जाते हुए कुछ भी विलम्ब नहीं करते। परन्तु इस में भी तो कोई सन्देह नहीं कि तुम इन के नहीं, ये तुम्हारे हैं। तुम ने ही इन्हें पाला-पोसा और यह वर्तमान रूप दिया है। तुम भूल-भुलैयां में पड़े हुए हो, तुम यह समझते हो कि मेरे इन्द्रिय मेरी इच्छा के प्रतिकूल चलते हैं। परन्तु वस्तुतः

बात ऐसी है नहीं। तुम्हारे इन्द्रिय तो तुम्हारी इच्छा के बिना एक पग भी आगे नहीं रख सकते। तुम थोड़ी और गहराई में चलो, और अपने स्वरूप को देखो। दृष्टि के सूक्ष्म होते ही तुम यह देख सकोगे कि तुम्हारी इच्छा के दो रूप हैं। एक उस का वह रूप है जिस से तुम किसी भी कार्य-क्रम को बनाते समय काम लिया करते हो, इच्छा के इस रूप का निर्माण तुम ने अपने विज्ञान की दी हुई व्यवस्था के आधार पर किया है। और इच्छा का दूसरा रूप वह है जो कार्य करते समय, तुम्हारी इच्छा के उस रूप को तुम्हारी दृष्टि से ओझल कर अपने आप को सामने ला खड़ा किया करता है। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि है यह भी तुम्हारी ही इच्छा। यह इच्छा का वह रूप है, जिस का तुम ने चिरकाल की व्यवहार-परम्परा से उपार्जन किया है। तुम ने अनेकों बार अपनी इच्छा के इसी रूप को अपनी इन्द्रियों के नियन्त्रण के लिये नियुक्त किये रक्खा है। अब तुम ने विज्ञान के आधार पर एक दूसरी इच्छा को जन्म दे कार्य में नियुक्त करने का सङ्कल्प किया था। परन्तु कार्य का आरम्भ होने से पूर्व ही तुम्हारी इस इच्छा को तुम्हारी सदा की सहकारिणी उस इच्छा ने धक्का देकर पीछे हटा दिया, और आप आगे बढ़ कर इन्द्रियों की पीठ के पीछे आ खड़ी हुई। तुम इस के लिये उदाहरण पूछोगे, सो सुनो! तुम किसी एकान्त स्थान में जाकर सन्ध्या करने के लिये बैठे हो, तुम ने यह निश्चय कर लिया है कि चित्त को एकाग्र किये बिना सन्ध्या का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, अतः किसी एकान्त

स्थान में बैठ कर चित्त को एकाग्र करते हुए सन्ध्या करनी चाहिये, अपने इस निश्चय के आधार पर ही तुम्हारे अन्दर इस कार्य-क्रम को सफल बनाने के लिये एक इच्छा उत्पन्न हुई, तुम एकान्त में जा बैठे, मन्त्र-पाठ किया और ध्यान-निमग्न हो चित्त को एकाग्र करने लगे। थोड़ी ही देर में तुम क्या देखते हो कि मन को एकाग्र करने की बात तो कहीं खटाई में पड़ गई, नये नये चित्र चित्त के पट में से प्रकट हो हो कर सामने आने लगे, नई नई विचार-धाराओं का भी तांता बंध गया, और तुम्हारी उस चित्त को एकाग्र करने की इच्छा का इस खेल के समय इस क्षेत्र में कहीं नाम भी नहीं मिलता। तब क्या तुम यह कहोगे कि तुम्हारी इच्छा के विपरीत जो यह प्रदर्शनी आरम्भ हुई है, यह तुम्हारी इच्छा के बिना आरम्भ हुई है ? नहीं कदापि नहीं। तुम इस अध्यात्म जगत् के सम्राट् हो। तुम्हारी इच्छा के बिना यहां एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। हां इस में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रदर्शनी को आरम्भ करने वाली तुम्हारी इच्छा इतने गुप्त रूप से कार्य-क्षेत्र में आई है, कि दूसरों को तो क्या तुम्हें भी इस का पता नहीं लग सका।

तुम जानते हो कि तुम ने एक के बाद दूसरी इच्छा को जन्म दे दे कर चिरकाल से अपने चित्त में इच्छाओं का तांता बांध रक्खा है। और अब वे अभ्यास से इतनी प्रबल होगई हैं कि तुम्हारी किसी आवश्यक इच्छा के सामने आते ही उसे दबा कर अपने आप कार्य-क्षेत्र में आ खड़ी होती हैं। यद्यपि ये इच्छाएं भी तुम्हारी ही हैं, परन्तु

अत्यन्त अभ्यास के कारण इन का प्रयोग करते हुए भी तुम्हें यह पता नहीं रहा करता कि मैं इन्हें काम में लगा रहा हूं। अभ्यास न होने के कारण नवीन इच्छा दब जाती है, और ये इच्छाएं उस के स्थान पर अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। अतः सावधान होजाओ, चेतो; मन, इन्द्रिय आदि किसी प्राकृतिक शक्ति को दोष देकर भूल-भुलैयां में मत पड़ो। ये सब शस्त्र हैं और तुम चलाने वाले हो। शस्त्र की क्या शक्ति है कि शस्त्र-धारी की प्रेरणा के बिना चल सके। दोष सब तुम्हारा अपना है। तुम ने अपनी वर्तमान इच्छा को कार्य-क्षेत्र में तो भेज दिया है परन्तु उसे पूरा बल नहीं दिया। यदि इस इच्छा को तुम्हारे धृतिमन का पूरा सहयोग मिल जाता तो यह कभी सम्भव न था कि उसे मार खाकर पीछे हटना पड़ता। धृतिमन वह शक्ति है जो शरीर के एक एक अङ्ग को और प्रत्येक इन्द्रिय को जिस स्थान पर और जितनी देर चाहे खड़ा रक्खे। परन्तु यह हो तब सकता है कि जब तुम सावधान होकर उस की पीठ के पीछे डट कर खड़े हो। तुम्हारे ढीला पड़ते ही धृति का नियन्त्रण ढीला पड़ जावेगा, और चिरकाल से अभ्यास में आई हुई शक्तियें तुम्हारी इस इच्छा के विपरीत अपना कार्य आरम्भ कर देंगी। अतः सावधान हो अपनी इच्छा को बल दो।

इस इच्छा को और भी सबल बनाने के लिये तुम्हें श्रद्धा देवी की शरण लेनी पड़ेगी। जिस मनुष्य की अपने लक्ष्य में उत्कट श्रद्धा नहीं वह उस लक्ष्य तक कभी पहुंच ही नहीं सकता। धृति, मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय आदि सब

शक्तियें श्रद्धा देवी के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। श्रद्धालु मनुष्य भयङ्कर से भयङ्कर यातनाओं से सताया हुआ भी एक पग भी पीछे नहीं हटाता और अपने लक्ष्य की ओर दौड़ा चला जाता है। श्रद्धा देवी, कर्म-क्षेत्र में खड़े हुए मनुष्य की, माता की भांति रक्षा करती है, अतः इस देवी की शरण लेना अपनी इच्छा को सबल बनाने के अभि-लाषी कर्म-शील मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार यदि तुम सारी अध्यात्म सेना को सजा कर कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ोगे तो अपने धृतिमन में ब्रह्म की चमकती हुई ज्योति का साम्राज्य अति शीघ्र देखने में सफल हो सकोगे। और तुम्हारा यह मन विश्व-ज्ञान को धारण कर विश्वभान कहलाने का अधिकारी बन सकेगा।

हम समझते हैं कि आत्मा का अपने लिये दिया गया यह उपदेश, "भगवान् के ज्ञान से अपने धृतिमन को चम-काने के लिये हम किस मार्ग का अनुसरण करें" इस पूर्व-कथित प्रश्न का उत्तर देने के लिये पर्याप्त है।

इस मन्त्र का अन्तिम वाक्य है :—

"यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतम्प्रजानाम्"

(जिस मन में प्रजाओं के सब चित्त ओत-प्रोत हैं)।

यहां यह प्रश्न होसकता है कि सब प्राणियों के चित्तों का एक मनुष्य के चित्त में प्रविष्ट होजाना किस प्रकार सम्भव है ?

इस के उत्तर में हम निवेदन करेंगे, कि भगवान् के

स्वरूप की प्रसादी प्राप्त करने वाले धृतिमन के लिये यह व्यवस्था साधन भी है और परिणाम भी। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति के अभिलाषी विद्यार्थी को अपने मन में उस आकर्षण-शक्ति को उत्पन्न करने की आवश्यकता है, कि जिस के प्रताप से सब प्राणियों के चित्त, फूल पर भ्रमर के समान, उस के चित्त की ओर, उस के लिये अपने अन्दर उमड़े हुए, प्रेम से खिंचे आ रहे हों। और यह भी तथ्य है कि जिस मनुष्य को भगवान् की प्रसादी मिल जाती है, उस की एक यह भी पहिचान है कि सब प्राणी उस से प्रेम करने लग जाते हैं—उन के मन उस की ओर किसी विशेष शक्ति के कारण, चुम्बक की ओर लोहे की भांति, खिंचे चले आते हैं।

विश्वभान मन के स्वरूप का यह अंश कितना मधुर है, इस का वर्णन जिह्वा की तथा लेखनी की शक्ति से बाहिर है।

जिस मनुष्य के, संसार में सब मित्र ही मित्र हैं, और जिस का एक भी शत्रु नहीं, उस से बढ़ कर सौभाग्यशाली और कौन होगा। महर्षि पतञ्जलि ने चित्त को निर्मल करने का यह एक उत्तम साधन माना है, लिखा है :—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योग. १।३३

मनुष्य; सुखी लोगों में मित्रता, दुःखियों पर करुणा, धर्मात्मा लोगों पर प्रसन्नता और अधर्म-परायण लोगों पर उपेक्षा की भावना करे, इस अनुष्ठान से उस का चित्त

निर्मल होजावेगा। और परिणाम का उल्लेख करते हुए, इसी सूत्र के भाष्य में भाष्य-कार व्यास जी ने लिखा है :-

"प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते"

और इस प्रकार निर्मल किया हुआ चित्त एकाग्र और अत एव स्थिर होजाता है। और निर्मल, एकाग्र तथा स्थिर अन्तःकरण के शीशे में भगवान् के ज्ञान-प्रकाश का उदय होना आवश्यक ही है।

बहुधा सांसारिक लोग किसी अपने पड़ोसी को सुखी देख कर कुढ़ने लग जाया करते है। "मैं भी इस के समान बनूंगा" यह भावना बुरी नहीं, परन्तु "यह ऐसा क्यों बन गया?" यह सोच सोच कर दुःखी होते रहना अत्यन्त निकृष्ट भावना है। ऐसा मनुष्य अपनी इस भावना से अपने आप को लाभ की अपेक्षा हानि पहुंचा रहा है। लोग दुःख के साधनों से बचना चाहा करते हैं, परन्तु यह जान बूझ कर एक सुन्दर और सुखदायक वस्तु को अपने दुःख का साधन बना रहा है। पड़ोसी यदि सुखी है तो उस की आकृति पर आई हुई प्रसन्नता के चमत्कार को देख कर, यह कभी अपने आप को भी प्रसन्न कर सकता था, परन्तु तब, जब कि इस के हृदय में उसे सुखी देख कर मित्रता का भाव उमड़ आता। क्योंकि मित्र के सुख में मित्र को भी एक स्वाभाविक आनन्द आता है। परन्तु इस ने ऐसा नहीं किया, प्रत्युत उस के सुख को देख कर द्वेष की भावना को अपने हृदय में जन्म दिया, इस के फलस्वरूप अपने लिये दुःख का एक नया साधन खड़ा कर लिया, और भविष्य

के लिये भी अपने पड़ोसी को शत्रु बना कर अपने लिये एक स्थायी दुःख के साधन की नींव डालदी। अब विद्यार्थी महानुभाव समझ गये होंगे कि इस मनुष्य ने अपने आंगन में से आम के पेड़ को उखाड़ कर उस के स्थान में कीकर का पेड़ बो दिया है। इसी प्रकार जो मनुष्य दूसरे को दुःखी देख कर प्रसन्न हो रहे हैं, पुण्यात्मा देख कर कुढ़ रहे हैं और अधर्म का आचरण करते हुओं को देख कर उन की निन्दा करते फिरते हैं, वे सब इसी रोग के रोगी हैं। इस के विपरीत जो मनुष्य दूसरे को दुःखी देख कर उस पर दया करते हैं वे अपने मन में एक उदारता की पवित्र भावना उत्पन्न कर रहे हैं, और इस के साथ ही उस दुःखी मनुष्य के बोझ को अपनी उस दया की भावना से हलका कर, उसे सदा के लिये अपना मित्र बना रहे हैं। यह ही अलभ्य लाभ वे लोग उठा रहे हैं, जो धर्मात्माओं को देख प्रसन्न होरहे हैं और अधर्मपरायण लोगों को देख, उन की निन्दा न कर उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे महापुरुषों का चित्त निर्मल होजाता है, वे ही भगवान् की विभूतियों के पात्र हुआ करते हैं और इन विभूतियों का भण्डार बना हुआ उन का मन ही विश्व-भान कहलाने का अधिकारी होता है।

संसार में मित्रता और प्रेम ही सब से बड़े आकर्षण हैं। और इस आकर्षण के बल पर ही सब प्राणियों के चित्त उस प्रेमी मनुष्य की ओर खिचे चले आते हैं, परन्तु यह आवश्यक है कि वह प्रेम और मित्रता किसी स्वार्थ और निमित्त को लेकर न खड़ी हुई हो। ऐसा नैमित्तिक प्रेम मनुष्य के अन्तःकरण को निर्मल नहीं बना सकता। स्वार्थ

और निमित्त तो अन्तःकरण के स्वच्छ जल में भी स्याही घोल उसे भी मलिन बना देते हैं। स्वार्थ एक ऐसी दीवार है जो उस स्वार्थी और अन्य मनुष्यों के अन्तःकरणों के बीच में खड़ी होजाती है। उस के रहते हुए यह कभी सम्भव नहीं कि उस मनुष्य का अन्तःकरण दूसरे मनुष्यों के अन्तःकरणों के साथ मिल कर एक हो सके।

वैज्ञानिक रीति से इस का रहस्य यह है कि स्वार्थ मोह-वृत्ति का एक परिणाम है, और मोह तमोगुण का ही रूपान्तर है। अन्तःकरण में मोह का साम्राज्य होजाने पर उस की परिधि संकुचित होजाती है। अब वह फैल नहीं सकता। और यदि फैलने का यत्न करेगा भी तो वहां तक ही फैल कर रुक जावेगा, जिस प्राणी के साथ उस का मोह है। उस से आगे दूसरे प्राणियों के अन्तःकरण तक पहुंचने का उस के पास कोई साधन नहीं। क्योंकि मोह की रस्सी ने उसे जकड़ कर एक कीले के साथ बांध दिया है। अपनी इन बन्धन की बेड़ियों को खोलने के साधन भी उसे सूझते नहीं। क्योंकि यह सूझ ज्ञान के प्रकाश की उपज है, और ज्ञान का प्रकाश इस अन्तःकरण को चमका नहीं सकता। क्योंकि मोह तमोगुण की सन्तान है, और तमोगुण का आवरण ज्ञान के प्रकाश को फैलने नहीं देता–ढांपता है।

रेशम के कीड़े की तरह इस आत्मा ने अपने आप को बांध कर एक कोठड़ी में डाल देने के लिये यह मोह का जाल स्वयं बनाया है। सत्सङ्ग, तपश्चर्या और ईश्वर के गुणों का चिन्तन, इस जाल को काटने के महान् शस्त्र हैं।

सत्सङ्ग में मनुष्य को उन आत्माओं के गुणों की महिमा के स्वाध्याय का अवसर मिलता है, जिन्हों ने अपने मोह-जाल को काट कर अपने अन्तःकरणों को इतना अधिक फैलने का अवकाश दिया है कि वे अन्य प्राणियों के अन्तःकरणों के तल में घुस, उन के कष्टों का अनुभव कर, तत्काल ही उस की प्रतिक्रिया के लिये उपाय सोचने में तल्लीन हो जाते हैं।

चन्दन के समीप के अन्य जाति के पेड़ भी चन्दन की सुगन्धि से सुगन्धित होजाते हैं, यहां तो यह भी विशेषता है कि सत्सङ्गी मनुष्य का अन्तःकरण उसी जाति का तत्व है, जिस जाति के अन्तःकरण का यह सत्सङ्ग करने आया है। ऐसी अवस्था में तो यह सर्वथा सम्भव है कि इस अन्तःकरण में भी वह भावना जाग उठे जो उस अन्तःकरण में स्थान पा चुकी है। यद्यपि यह कार्य धीरे धीरे होगा, परन्तु वह मनोहर दिन कभी अवश्य आजावेगा, जिस दिन इस के मोह का जाल छिन्न भिन्न होजावेगा और इस का अन्तःकरण फैल कर दूसरों के दुःखों का अनुभव करता हुआ उन को दूर करने के उपाय सोचने में तल्लीन होजावेगा।

उन कष्टों को दूर करने के साधन समझ में आजाने के बाद उन के अनुष्ठान की बारी आती है और यहीं से तपश्चर्या का क्षेत्र आरम्भ होजाता है।

उन कष्टों में कुछ तो ऐसे होते हैं जो इस दुःखी मनुष्य के आलस्य और प्रमाद के कारण कार्य करने की कुशलता और तत्परता के नष्ट होजाने पर इसे आ सताते

हैं। ये सब दुःख इस के अपने सञ्चित किये हुए हैं।

संसार में ऐसे महापुरुष अंगुलियों पर गिनने-योग्य ही होते हैं जो किसी को निर्बल देख, उस की सहायता के लिये पग आगे बढ़ा, उस के उठाने का यत्न किया करते हैं। अधिक संख्या संसार में ऐसे क्रूर पुरुषों की ही देखने में आती है, जो किसी को निर्बल देख, उस का सर्वस्व छीन, उसे दुःख की भयङ्कर अग्नि में डाल, दूर बैठे हुए उस के जलने का तमाशा देख देख कर आनन्द मनाया करते हैं। ये दूसरी प्रकार के दुःख हैं जो इस की निर्बलता के कारण बलवान् मनुष्यों के द्वारा इस के सिर पर लादे गये हैं।

एक तीसरी प्रकार के भी दुःख हैं जो कि बिजली का गिरना, भूकम्प का आजाना, भयङ्कर आंधी का चलना, ओलों का गिरना आदि दैवी दुर्घटनाओं के कारण मनुष्य को आ सताया करते हैं।

मनुष्य किसी मनुष्य पर आये हुए उक्त दोनों प्रकार के दुःख दूर करने में समर्थ है, और तीसरी प्रकार के दुःख के बोझ को भी उस के ऊपर से अपनी शक्ति के अनुसार पर्याप्त हलका कर सकता है। यह ही अन्य प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट हो उन के चित्तों को अपनी ओर खींच लेने का उत्तम साधन है। और अपने अन्तःकरण को स्वच्छ करने, और उस में भगवान् के पवित्र वेद-ज्ञान का सूर्य उदय करने का साधन है।

हम पहिले लिख आये हैं कि यह तपश्चर्या का क्षेत्र है। दूसरों का दुःख दूर करने के लिये किन किन कष्टों का

सामना करना पड़ता है, उन की गणना असम्भव है। कई बार उन के अज्ञान के कारण उन पर आये कष्टों को दूर करने के लिये, उन के अज्ञान को नष्ट करने के साधन बतलाने वाले मनुष्य के, वे स्वयं ही शत्रु बन जाते हैं। अन्य मनुष्यों से उन के ऊपर लादे हुए दुःखों को दूर करते समय वे अन्य मनुष्य भी इस के घोर शत्रु बन जाते हैं। दैवी आपत्तियों से आए हुए कष्टों को दूर करने के लिये भी इसे कई बार अपने सर्वस्व तक का बलिदान कर उस की रक्षा करनी पड़ती है।

इस कष्ट के सहन-रूप तपश्चर्या की गाथा यदि सुननी हो, तो भगवान् बुद्ध, जगद्गुरु शङ्कराचार्य तथा महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्रों से सुनिये।

तपश्चर्या के साथ साथ भगवद्गुणों के चिन्तन को भी हमने मोह-जाल को काटने का साधन बतलाया था। वस्तुतः भगवान् के गुणों का चिन्तन तपश्चर्या को उस की अन्तिम सीमा तक लेजाने के लिये, नौका को पार लेजाने वाले मल्लाह का काम करता है। भगवान् के नाम-चिन्तन में मग्न हुआ मनुष्य अपने ऊपर आये हुए दुःखों के बड़े से बड़े पहाड़ को फूल समझ, हंसता हंसता सहन कर लेता है। और कष्टों के भयङ्कर से भयङ्कर जङ्गल को भगवान् के नाम के दुधारे परशु से चीरता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुंचने में सफल होजाता है। और यह ही तप की अन्तिम सीमा है।

मोह-जाल की सीमा बहुत छोटी है, और उस का प्रभु असीम है। अतः उस का आश्रय लेने वाला भक्त, उस

सीमा को तोड़ अपने असीम प्रभु की सहायता से सब प्र- णियों के अन्तःकरणों में से होता हुआ सर्वत्र फैल जाता है।

इस प्रकार धृतिमन में भगवान् के ज्ञान का विकास होने पर, जो प्राणिमात्र के कल्याण का कार्य भगवान् किया करते हैं, ऐसे अन्तःकरण का धनी आत्मा भी उन्हीं कार्यों को छोटी मात्रा में करने के लिये तत्पर होजाता है। उस का मन विश्वभान होजाता है, और वह विश्व के प्रत्येक प्राणी की सम्पत्ति बन जाता है। और यह ही कारण है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी उसे अपना समझ, उस की ओर खिंचता है, और अपनी प्रत्येक प्रकार की निर्बलता को दूर करने के समय सर्वदा उसे अपने हाथ का सहारा पाता है।

भगवान् सब को विश्वभान मन दें, सब के मन में प्राणिमात्र के उत्थान के लिये विश्व-कल्याण की भावना दें और इस शक्ति को प्राप्त कर, हम सब वेद के इस मन्त्र-भाग का ऊंचे स्वर से पाठ करें :—

"मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"

(हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देख रहे हैं)।

इस प्रकरण में हम ने धृतिमन के एक भाग विश्वभान मन का संक्षेप से व्याख्यान किया है। आशा है विद्यार्थी तथा अभ्यासी महानुभाव इन भावों को अपने अन्तःकरण में स्थान देंगे। इस से आगे के प्रकरण में भी धृतिमन के ही एक भाग वशीकरण का व्याख्यान किया जावेगा, और फिर उपसंहार के साथ इस छोटी सी पुस्तिका को समाप्त किया जावेगा।

वशीकरण-मन

इस से पहिले प्रकरण में धृतिमन के एक भाग चिश्व-भान का व्याख्यान किया गया है। अब इस प्रसङ्ग में उसी के एक और भाग वशीकरण का व्याख्यान किया जावेगा।

हम पहिले क्रमशः यह लिख आये हैं कि धृतिमन हमारे शरीर में गुप्त रूप से अनेक कार्य कर रहा है, और कार्य करने वाली अनेक शक्तियों का सञ्चालन कर रहा है। इसी मन में जब आत्मा की शक्तियों का आभास होता है, तो यह अहङ्कार तथा प्रत्यग्भान का रूप धारण कर, और भी अनेक श्रेष्ठ कार्य करने लग जाता है, इसी में जब भगवान् की शक्तियें प्रकट होजाती हैं तो यह ज्ञान का भण्डार बन प्राणियों के आकर्षण की शक्ति को धारण कर लेता है और इस के अन्दर विराजमान भगवान् की शक्तियों का जब इस पर और भी अधिक प्रभुत्व होजाता है, और यह उन शक्तियों के रङ्ग से रंग जाता है, तो एक सच्चे नेता का रूप धारण कर लेता है, और मानव-जाति को अपने आदेशानुसार चलाने और उसे आगे बढ़ाने में सफल होजाता है। अन्तःकरण की इसी शक्ति का नाम वशीकरण है। इस का वशीकरण नाम औरों के ऊपर ही नहीं अपने ऊपर अधिकार करने से भी पड़ा है। वास्तव में अपनें ऊपर अधिकार करनें के बाद ही मनुष्य दूसरों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने में समर्थ होसकता है। इसी लिये धृतिमन की इस अवस्था का नामकरण हम ने "वशीकरण" किया है। यह

नामकरण हमारा अपना किया हुआ नहीं, हम ने भी यह नाम योग-भाष्यकार व्यास जी से लिया है। योगदर्शन के विभूतिपाद में उनञ्चासवें सूत्र का भाष्य करते हुए उन्हों ने लिखा है :—

"निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य"

जब बुद्धि के सत्व से रजोगुण और तमोगुण दूर होजाता है, और वह परम स्वच्छ होजाता है, उस समय उस की वशीकरण संज्ञा होती है।

"हमारे धृतिमन की रचना विश्व-मानस से हुई है, इसी के नाम सांख्य-परिभाषा में बुद्धितत्व और महत्तत्व हैं" यह हम इसी पुस्तक में पहिले लिख आये हैं। अतः हमारे धृतिमन में और चित्त में जो सत्व है उसे भी, उस का उपादान कारण बुद्धिसत्व होने से, बुद्धिसत्व कहा जासकता है। विश्वभान की अवस्था में यह सत्व परम स्वच्छ और भगवान् के ज्ञान से प्रकाशमान होचुका था। इस की यह स्थिति बन जाने के बाद ही व्यास जी ने इसे "वशीकरण" नाम दिया है। और उसी आधार को लक्ष्य में रख हम ने इस का "वशीकरण" नाम रक्खा है।

हम पहिले लिख आये हैं कि इस का वशीकरण नाम अपने ऊपर अधिकार रखने से पड़ा है। यद्यपि यह दूसरों के हृदयों पर अधिकार कर, उन का भी सुमार्ग में सञ्चालन करता है—जैसा कि इस छठे वेद-मन्त्र में स्पष्ट है, परन्तु हमारे उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दूसरों के हृदयों

पर अधिकार करने के लिये पहिले अपनी शक्तियों पर अधिकार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये इस मन्त्र में सब से पहिले "सुषारथिः" शब्द आया है। लक्ष्य की ओर मार्ग कौन सा जाता है, उस मार्ग में क्या क्या कठिनाइयां हैं, उन कठिनाइयों को पार करने के लिये कौन कौन से साधन चाहियें, मैंने अपने घोड़ों को इतना बलिष्ठ तो बना लिया है कि वे बिना कठिनाई के लक्ष्य तक पहुंच सकेंगे और उन्हें इतना सधा भी लिया है कि नहीं कि उन का एक एक पग मेरी इच्छा के अनुसार पड़ेगा। इस प्रकार सारी कर्तव्य-परम्परा को जिस ने कार्य-रूप में परिणत कर लिया होगा, उसी सारथि को सुषारथि कहलाने का अधिकार है, और इसी का नाम है अपने ऊपर अधिकार करना।

इन्द्रियों पर और मन पर अधिकार करने का काम पहिली भूमिकाओं में ही समाप्त होचुका था, धृतिमन विशुद्ध किया जाचुका है और आत्मा तथा जगदीश की शक्तियों का आभास उसे मिल चुका है। अब उस के लिये आवश्यक यह है कि अपनी प्राप्त की हुई इन शक्तियों पर पूरा अधिकार कर, उन के उपयोग की योग्यता प्राप्त करे। और वह उपयोग है—स्वयं सुमार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी अपने पीछे चलाना। इसी भाव का स्पष्टीकरण इस छठे मन्त्र में किया गया है। मन्त्र यह है :—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

जिस प्रकार अच्छा सारथि घोड़ों को रस्सियों के नियन्त्रण में, ठीक मार्ग पर लेजाता है, इसी प्रकार जो मन मनुष्यों को सुमार्ग पर लेजाता है, हृदय में स्थिर हुआ हुआ है, जीर्ण नहीं और वेगवान् है, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प का आश्रय हो।

इस मन्त्र में आये हुए 'सुषारथि' शब्द का भाव हम ऊपर प्रकट कर आये हैं। इस के साथ ही 'हृत्प्रतिष्ठ', 'अजिर' और 'जविष्ठ' ये तीनों पद भी ध्यान देने योग्य हैं। हृत्प्रतिष्ठ पद से उस की स्थिरता का, अजिर पद से उस की अक्षय शक्ति का और जविष्ठ पद से उस के लक्ष्य पर अति शीघ्रता से पहुंचाने वाले वेग का उल्लेख किया गया है।

यद्यपि यह कहा जासकता है कि हृदय में दैवमन तथा यक्षमन का स्थान है, और धृतिमन का स्थान है सारा शरीर, ऐसी अवस्था में धृति के हृदय में स्थिर होने का उल्लेख कैसे सङ्गत होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कथन यह है कि हृत्प्रतिष्ठ पद से धृतिमन की उसी नियन्त्रण-शक्ति का परिचय दिया गया है, जिस का उल्लेख हम सुषारथि पद के व्याख्यान में कर आये हैं। यह उस का अपने ऊपर अधिकार है। उस के अपने ही अङ्ग दैव तथा यक्ष मन भी हैं, जिन का हृदय में स्थान माना है, और जिन्हें रात-दिन दौड़ने वाला कहा गया है। यदि वह अपने इन अङ्गों को ही कान पकड़ कर हृदय में न बैठा सका तो उस का अपने ऊपर अधिकार कैसा? इस लिये यहां उसे उस के अपने अङ्गों के द्वारा ही

हृत्प्रतिष्ठ कहा गया है।

विद्यार्थी समझ गये होंगे कि अब आत्मा की बहुत सी समस्याएं सुलझ गई हैं। उस का अपना सारा अध्यात्म जगत् निश्चल होगया है। अपना मार्ग निश्चय करने के लिये भी अब उसे कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। अधिक कठिनाई तो इस निश्चय में उसे, अपने प्रधान सहकारी तथा प्रत्येक निश्चय में साधन, अन्तःकरण की प्रतिकूल अवस्था के कारण थी। क्योंकि उस के अथाह सागर में उठने वाली विक्षेप की तरङ्गें उसे चैन ही न लेने देती थीं, किसी निश्चय का स्थिर करना तो दूर की बात रही। अब यह सागर प्रशान्त है, और आत्मा के मार्ग में कोई रोड़ा नहीं अटकाता। अब तो वह सच्चे सेवक की भांति प्रतिक्षण उस के आदेश की राह देख रहा है।

उस की दूसरी कठिनाई उस के अल्पज्ञान के कारण थी। उस का ज्ञान इतना थोड़ा है कि वह अपने मार्ग का निर्णय करने में कई बार कितनी ही भूलें किया करता है। आप प्रसन्न होंगे कि अब उस की उस कठिनाई का भी अन्त होचुका है। उस के अन्तःकरण में और उस के अपने अन्दर भी ज्ञान के सूर्य की वह ज्योति चमक उठी है, जिस के प्रकाश में वह अपने उद्देश्य की ओर जाने वाले मार्ग को, हथेली पर रक्खे हुए आंवले की भांति प्रत्यक्ष देख रहा है। यह प्रकाश भगवान् के ज्ञान का प्रकाश है और इस प्रकाश को पाकर अल्प ज्ञान रखने वाला आत्मा अब ज्ञान का भण्डार बना हुआ है।

अब तक वह भूखा था, और अपनी भूख मिटाने के लिये ज्ञान के भोजन की खोज में घूम रहा था। वह भोजन अब उसे प्राप्त होगया और भूख शान्त हो गई। परन्तु अब एक और प्रबल भूख, उस के अन्दर इस प्रकाश के आते ही प्रकट होगई है, जिस की कि जननी है, "करुणा"।

अब वह अपने आप को एक हरे भरे फल फूलों से लदे हुए पर्वत पर खड़ा देख रहा है। और इस के साथ ही उस पर्वत पर चढ़ने के अभिलाषी, भूखे और चढ़ने में असमर्थ मनुष्यों को भी देख रहा है। उस की यह "करुणा" उसे अब यह आज्ञा नहीं देती कि वे प्राणी भूख से तड़पते रहें, और यह उन मधुर फलों का उपभोग करे। पहिले अपनी भूख उस की भूख थी, और अब उन भूखे प्राणियों की भूख उस की अपनी भूख बन गई है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में इस भाव को बड़े मनोहर रूप में प्रकट किया गया है :-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ यजुः अ. ४०, मं. ६ ।

जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखता है, वह संशय से पार हो गया।

अपने यथार्थ ज्ञान को परखने की कैसी सुन्दर कसौटी वेद ने बतलाई है। जब तुम्हारा व्यवहार ऐसा बन जावे कि तुम अपने आत्मा को दूसरे प्राणियों में देख सको-उन की भूख से स्वयं बिलबिला उठो, तब समझ लेना कि तुम्हारा संशय दूर हो गया, और तुम्हें ज्ञान हो गया।

यद्यपि इस मन्त्र का यह भाग भी आचरण में आना कठिन है, परन्तु इस से भी कठिन इस का वह भाग है, जिस में कहा गया है कि 'वह सब प्राणियों को अपने आत्मा में देख रहा है'। अन्य प्राणियों के दुःख को अपना दुःख समझ, उन के आत्मा में प्रविष्ट होजाना तो इस के अपने हाथ की बात थी, परन्तु अन्य प्राणी भी खिंचे हुए इस के आत्मा में चले आवें, यह उन की अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है। परन्तु इच्छा न होने पर भी जिस प्रकार लोहे को चुम्बक की ओर खिंचना ही पड़ता है, इसी प्रकार दूसरों के दुःखों को अनुभव करने की आकर्षण-शक्ति जब इस ने अपने अन्दर उत्पन्न करली तो अन्य प्राणियों को भी खिंच कर विवश इस के अन्दर प्रवेश करना ही पड़ेगा। और यह ही इस का हृत्प्रतिष्ठ होकर अपने ऊपर अधिकार करते हुए दूसरों के ऊपर अधिकार करने का भाव है।

यह जहां अपने हृदय में स्थिर हो कर अपनी शक्तियों पर अधिकार करने में सफल हुआ था, वहां अब दूसरों के हृदय में प्रविष्ट होकर, उन्हें अपनी ओर खींच, अपने पीछे लगा, उन्हें उस मनोहर पर्वत पर चढ़ने का मार्ग दिखलाता हुआ एक अच्छे सारथि की पदवी प्राप्त कर रहा है।

इस छठे मन्त्र का दूसरा पद है, "अजिरम्"–जीर्ण न होना। जो मनुष्य दूसरों के लिये अपने सर्वस्व का बलिदान करता है संसार में उस का मूल्य आंकने वाले बहुत थोड़े मनुष्य होते हैं। अधिकांश लोग तो ऐसे देखे गये हैं, जो अपने लिये बलिदान होने वाले उस मनुष्य को अपना

विरोधी समक्ष उस के प्राण लेने तक के लिये उद्यत हो जाते हैं। महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है। ऐसे अवसर आने पर अधिकांश नेताओं की, दूसरों के कल्याण के लिये प्रकट हुई मनोवृत्ति निर्बल पड़ जाती है—जीर्ण हो जाती है। परन्तु महर्षि दयानन्द जैसे मनोविज्ञान के पण्डित, अपने तथा उन मनुष्यों के अन्तःकरण का अन्तर परख लेते हैं। वे उन लोगों को अपनी तराजू पर नहीं, उन्हीं की तराजू पर तोलते हुए कभी भी निराश नहीं हुआ करते। वे जानते हैं कि जिस प्रकार स्वच्छ करने के लिये अग्नि पर चढ़ाया हुआ जल, उछल कर अग्नि को बुझाने की चेष्टा किया करता है, इसी प्रकार विशुद्ध करने के लिये यथार्थ वाणी की भट्टी पर चढ़ाये हुए अन्तःकरणों में भी उबाल आना आवश्यक है। और ऐसी अवस्था में वे अपनी सारी शक्ति से वाणी को ही नहीं, उस के आश्रय को भी नष्ट करने की अवश्य ही चेष्टा करेंगे। परन्तु जैसे पानी के उछलने पर भी उसे स्वच्छ करने के लिये अग्नि को जलाने वाला अग्नि को निर्बल नहीं होने देता, वह उसे और भी तेज़ कर देता है, ठीक इसी प्रकार प्राणियों के कल्याण के लिये यथार्थ वाणी का प्रयोग करने वाला नेता भी, उछल कर आते हुए उन प्राणियों के अन्तःकरणों के आवेग को देख कर अपनी वाणी को निर्बल नहीं होने देता, वह उसे और भी अधिक बल देकर गुंजाने का यत्न करता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि उस की इस चेष्टा से उस के प्राणों के चले जाने का भी भय है, परन्तु वह वैद्य बन कर जिस रोगी की

चिकित्सा करने चला है, उस के लिये इस से उत्तम औषधि और कोई है ही नहीं। और यदि वह अपने प्राणों के भय से अपनी औषधि के प्रयोग को निर्बल बना देगा तो फिर वह उसी समय अपने पद से नीचे गिर आवेगा। और अब उसे सच्चा वैद्य कहने के लिये कोई भी उद्यत न होगा। हां यह आवश्यक है कि उस की वाणी, उस की उन प्राणियों के लिये प्रकट हुई, करुणा के रस में सदा भीगी रहनी चाहिये। इस औषधि का यह रस ही, उस रोगी के नीरोग होने और उस के अपनी ओर खिचने का उत्तम अङ्ग है। इसी भाव को प्रकट करने के लिये इस मन्त्र में "अजिरम्" पद आया है। तात्पर्य यह है कि अनेक आपत्तियों के आने पर भी, और प्राणान्त तक की सम्भावना होने पर भी अच्छे सारथि का अन्तःकरण अपनी भावनाओं को जीर्ण नहीं होने देता। वह तो जिस प्रकार घृत के पड़ने पर अग्नि प्रज्वलित ही होती है, बुझती नहीं, इसी प्रकार उस के अन्तःकरण की भावना-रूप अग्नि भी आपत्तियों के आने पर प्रबल ही होती है, जीर्ण नहीं होती।

जिन के लिये हम अपना सर्वस्व न्योछावर कर रहे हैं, वे ही यदि हमारे प्राण लेने के लिये उतारू होजावें, तो इस के बाद भी उन के कल्याण के लिये किये गये अपने निश्चय पर अटल रहना, विद्यार्थियों को यद्यपि असम्भव प्रतीत होगा, परन्तु हम इसे असम्भव न कहेंगे, हां कठिन अवश्य कहेंगे। हम कठिन भी इसे इस लिये कह रहे हैं, कि विरले ही मनुष्य संसार में अपनी मानसिक विचार धारा का निर्माण कर, उसे स्थिर रख सका करते हैं। संसार में सब

से कठिन और सब से अधिक वीरता का काम अपने विचारों पर अटल रहना है। मन में उत्पन्न की हुई यह शक्ति एक ऊंचे महापुरुष के ही काम की चीज़ नहीं, अपनी पहिली अवस्था में विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी के भी यह उतने ही काम की है। और यथार्थ बात तो यह है कि अपने जीवन के उद्देश्य-रूप विचार-धारा अथवा सङ्कल्प की उत्पत्ति और पालन-पोषण बाल्य अवस्था में ही होने चाहियें। जिन महापुरुषों को यह सौभाग्य मिला है, वे ही अन्त में अपने सङ्कल्प में अटल देखे गये हैं।

यद्यपि आरम्भ में विद्यार्थी अपने लिये किसी उद्देश्य को नहीं चुन सकता, और न उस के आधार पर अपना कोई सङ्कल्प तथा कार्य-क्रम बना सकता है, परन्तु उस अवस्था में भी इस का उद्देश्य, सङ्कल्प और कार्य-क्रम के बिना रहना उस के भावी जीवन पर कुठाराघात है। इस समय उस के अन्तःकरण में किसी सङ्कल्प का जमाना और उसे जीवित रखना, उस के माता, पिता और आचार्य का काम है।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

इन तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्यों में माता, पिता और आचार्य के इस उत्तर-दातृत्व को भली भांति प्रकट किया गया है। भाव स्पष्ट है, इस आरम्भिक अवस्था में तेरे उद्देश्य और सङ्कल्प माता, पिता तथा आचार्य की सहायता से चमकें।

यद्यपि बालक अपने साथ कुछ संस्कार लेकर आया

है, और उस के उन संस्कारों के अनुकूल ही दिये हुए उद्देश्य और सङ्कल्प उस के अन्दर शीघ्र चमक सकेंगे. अत एव यह एक समस्या है कि माता, पिता और आचार्य, उस की अभी प्रकट न हुई हुई शक्ति को कैसे पहिचान सकेंगे ?

यद्यपि यह ठीक है कि बालक की उस छिपी हुई शक्ति का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ, परन्तु सूक्ष्म-रूप में ही सही उस के अन्तःकरण में छिपी हुई वह विद्यमान् तो अवश्य है। बस इन वाक्यों में 'देव' शब्द उसी छिपी हुई शक्ति को जानने तथा प्रकाश में लाने के उद्देश्य से आया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक माता पिता को सामान्य रूप से और आचार्य को विशेष रूप से इतना मनोविज्ञान तो अवश्य आना ही चाहिये कि वे बालक की आकृति, उस के रहन-सहन के ढङ्ग, उस के खेल-कूद के चुनाव और उस की इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों से, उस के अन्तःकरण में छिपी शक्ति को जान सकें। उस की इस शक्ति को पहिचानने के बाद, वे उस के लिये उद्देश्य का निर्धारण कर, उस के अन्तःकरण में उस की सिद्धि के अनुकूल सङ्कल्प को जन्म दें, और कार्य-क्रम का निर्णय कर उस के कोमल अन्तःकरण में उस सङ्कल्प को इतना दृढ़-मूल बनादें कि यह अंकुर शनैः शनैः एक विशाल तरुवर का रूप धारण कर ले, आरम्भ में इस तरुवर को माता पिता और आचार्य सींचते रहे, और अब साव-धान हो इस का लालन-पालन इस ने अपने हाथ में ले लिया है, यदि इस की देख-भाल इसी तरह रही तो अवश्य यह तरुवर फूले-फलेगा। और अब इस के जीर्ण अथवा निर्मूल होने की कोई सम्भावना नहीं।

दुर्भाग्य-वश जिन बालकों को ऐसे माता पिता और आचार्य नहीं मिले, उन्हें तो अपनी शक्तियों का विकास होने पर अपने उद्देश्य, सङ्कल्प और कार्य-क्रम का चुनाव स्वयं ही करना होगा। परन्तु एक बार चुन लेने के बाद अपने उस सङ्कल्प की, अपनी भावना तथा कार्य-परम्परा से पूजा करना उन का कर्तव्य होजाना चाहिये। जिन विद्यार्थियों का जीवन बिना उद्देश्य और सङ्कल्प के चल रहा है, निश्चय ही वे ऐसे अथाह सागर में कूद पड़े हैं, जिस का पार लगने के लिये कोई किनारा ही नहीं। अपने सङ्कल्प को कभी भी जीर्ण न होने देना ही विद्यार्थी-जीवन की सफलता का रहस्य है।

यदि विद्यार्थी-जीवन में ही सङ्कल्प-तरुवर को पाल पोस कर उन्नत कर दिया गया तो अच्छा सारथि बनने के बाद यह इस के मीठे फल स्वयं भी खावेगा, और दूसरे लोग भी उस की छाया में बैठने, और उस के फलों का स्वाद लेने के लिये अवश्य इस की ओर खिंचे चले आवेंगे। और अब बचपन से ही पाल कर पुष्ट किये गये इस सङ्कल्प-तरु को अनेक विपरीत विचार-रूपी हवाओं के झोंके न कभी उखाड़ सकेंगे और न जीर्ण कर सकेंगे।

इस मन्त्र में तीसरा पद है "जविष्ठ"। जविष्ठ नाम है वेग वाले का। विद्यार्थी यह प्रश्न करेंगे कि मन के जिस वेग को बड़ी कठिनाइयों से शान्त किया गया है, उसी को फिर मन में स्थान देने का क्या अभिप्राय ?

इस प्रश्न के उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि मन

की जिस गति को शान्त किया गया है, उस का नाम वेग नहीं, विक्षेप था। मन की वह गति आत्मा के प्रत्येक कार्य में बाधा डालती थी, इस लिये उस का दूर करना आवश्यक ही था। अब हमारे मन की वह दशा है, जो कि लक्ष्य पर छोड़ने से एक क्षण पहिले बाण की हुआ करती है। बाण को भली भांति सुसज्जित कर लिया गया है। लक्ष्य से विपरीत दिशा में हुए हुए उस के रुख को बदल कर, उसे ठीक लक्ष्य के सामने सीधा कर लिया गया है। अब शेष है तो यह कि धनुर्धारी उस में उतना वेग भर रहा है, कि वह मार्ग में न रुक कर सीधा लक्ष्य पर जा बैठे। बाण का हिलना और सीधा न होना लक्ष्य-बेध में विघ्न थे। अब इन विघ्नों को दूर कर, धनुर्धारी का बाण में भरा हुआ यह वेग लक्ष्य-बेध अवश्य ही करेगा। ठीक इसी प्रकार मन के उस विक्षेप को दूर कर दिया गया है, जो उस के वशीकरण की अवस्था तक पहुंचने में प्रतिबन्धक था। उस ने अपने ऊपर अधिकार भी कर लिया है। अब तो सारे साज सजा लेने के बाद उसे औरों के हृदयों को अपनी ओर खींचने के लिये प्रबल वेग से कार्य-क्षेत्र में उतरने की आवश्यकता है।

जिस सङ्कल्प को मन में जन्म दे दिया गया है, और जिस के जीर्ण न होने देने की हम पहिले प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिये हमें अपने मन का पूरे वेग से सञ्चालन करना होगा। लोग हमें अपना हित-चिन्तक समझ लें, और हमारे पीछे हमारी इच्छा के अनुसार चल पड़ें, यह कार्य कितना कठिन है, इसे वे लोग

ही जानते हैं, जिन्हों ने कार्य-क्षेत्र में उतरने के बाद जनता की थपेड़ें खाई हैं। उन थपेड़ों को खा लेने के बाद भी कार्य-क्षेत्र में उसी गति से दौड़ते चले जाना वेग के बिना सम्भव नहीं। थोड़े वेग से फेंका हुआ पत्थर मार्ग में आई छोटी सी शाखा से भी टकरा कर नीचे गिर जाता है, परन्तु तीव्र वेग से फेंका हुआ वह ही पत्थर, अनेक शाखाओं की थपेड़ें खाता हुआ भी मार्ग में रुकता नहीं, और अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। ठीक इसी प्रकार मार्ग की सब बाधाओं को पार करते हुए हमारे वशीकरण मन को भी अपने लक्ष्य तक पहुंचना चाहिये। और उस के वहां तक पहुंचने का साधन है वह ही वेग, जिसे कि यहां 'जव' नाम से कहा गया है।

यहां मन को जविष्ठ कहते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि महापुरुष नेता अपने मन में वशीकरण-शक्ति का इतना वेग भर देते हैं कि अब वह बड़े से बड़े प्रतिबन्ध के आने पर भी कार्य-सिद्धि से पहिले रुक नहीं सकता। और यह ही सफलता प्राप्त करने का सब से उत्तम उपाय है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस साधन की विशेषता का वर्णन करते हुए दो सूत्र लिखे हैं। यद्यपि उन्हों ने इन साधनों का उल्लेख समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिये किया है, परन्तु प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये ये साधन उतने ही लाभदायक हैं, जितने कि समाधि की सिद्धि के लिये। यहां पर सारथि—वशीकरण मन दूसरे प्राणियों को अपने पीछे सुमार्ग पर चलाने के लिये आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहा है। इस

लिये अब उस का ध्येय है उन लोगों के अन्तःकरणों में आगे बढ़ने के लिये प्रबल धक्का देना। इस कार्य की सिद्धि के लिये यह मन कैसी चाल चले इस का ढङ्ग बतलाने के लिये हम ऋषि पतञ्जलि के उन दोनों सूत्रों को यहां उद्धृत करते हैं। सूत्र ये हैं :—

तीव्र संवेगानामासन्नः। योग. १।२१

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। योग. १।२२

जो मनुष्य अपने मन में प्रबल संवेग भर देते हैं उन का कार्य शीघ्र सिद्ध होता है। और इस संवेग को भी, मृदु, मध्य और तीव्र इन तीनों में से किसी भी विशेषता से युक्त कर प्रयोग में लाया जावे तो क्रम से कुछ शीघ्र, उस से भी शीघ्र और उस से भी शीघ्र कार्य-सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने मन को तीन प्रकार के संस्कारों से रंगा हुआ पाता है। एक तो वे संस्कार हैं जिन्हें मृदु कहते हैं, अर्थात् जिन का बहुत फीका-सा रङ्ग मन पर चढ़ा है। इन संस्कारों का नाम मृदुसंवेग है। दूसरे वे संस्कार हैं जिन का रङ्ग अन्तःकरण पर कुछ गहरा चढ़ा है, इस संस्कार को मध्यसंवेग संस्कार कहते हैं। और एक तीसरे ढङ्ग का संस्कार है, जिस का रङ्ग मन पर इतना गहरा चढ़ा है कि किसी और रङ्ग को अपने आधार मन से स्पर्श ही नहीं करने देता। इस संस्कार का नाम तीव्रसंवेग संस्कार है। इसी का दूसरा नाम विल-पावर है।

जिस मनुष्य के पास यह शक्ति नहीं उस के अच्छे से अच्छे उपदेश पर भी कोई ध्यान नहीं देता। सारथि बन

कर औरों को अपने पीछे चलाने की बात तो दूसरी है, यह अपने इन्द्रिय आदि अध्यात्म साथियों को भी अपनी इच्छा के अनुसार अपने पीछे नहीं चला सकता।

इस तीव्रसंवेग के भी महर्षि ने आगे के सूत्र में तीन भेद किये हैं--मृदु तीव्र, मध्य तीव्र और अधिमात्र तीव्र। मृदु का अर्थ है मन्द, मध्य उस से शक्तिशाली को और अधिमात्र उस से भी अधिक शक्तिशाली को कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस संस्कार का अन्तःकरण पर जितना गहरे से गहरा रङ्ग चढ़े उतना ही अच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिये, और निश्चित सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि साधन उत्तम से उत्तम हो। अन्यथा साधन निर्बल होने से कार्य सिद्ध न होने पर मनुष्य को जो निराशा होती है, वह मन को इतना निर्बल बना जाती है कि वह फिर उठने का साहस ही नहीं करता। इस लिये यह संस्कार तीव्र होता हुआ भी अधिमात्र तीव्र होना चाहिये। यह संस्कार, मनुष्य की सांसारिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार की कार्य-सिद्धि के लिये राम-बाण है। परन्तु भेद इतना है कि जिस प्रकार के कार्य को सिद्ध करना हो उस के लिये—उसी प्रकार के अधिमात्र तीव्रसंवेग संस्कार की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरण के लिये हम एक वीर योद्धा को ही सामने रखते हैं। यहां वीरता के प्रबल संस्कार की छाप उस के अन्तःकरण पर लगी रहनी चाहिये। और वह इतनी गहरी कि उस के सामने घूमता हुआ अस्त्र-शस्त्रों का भयङ्कर से भयङ्कर चक्र भी उसे पीछे न हटा सके। उस का

वह प्रबल संस्कार उस की गूंजती हुई झङ्कारों और तड़क-भड़क को अनसुनी और अनदेखी कर उसे आगे बढ़ने के लिये ही विवश करता रहे।

यह हम ने एक दृष्टान्त दिया है, इसी प्रकार किसी भी कार्य की सिद्धि का यत्न करते समय विद्यार्थी अपने अन्तःकरण में उस के अनुकूल प्रबल संस्कार को उत्पन्न कर सकते हैं, और उस से लाभ उठा सकते हैं।

यह वशीकरण मन का प्रसङ्ग है, इस का लक्ष्य है अपने ऊपर नियन्त्रण करते हुए दूसरों को अपने पीछे चलाना। इस मन के संस्कार की रचना होगी प्रेम, कल्याण-कामना, स्वार्थ-त्याग और आत्म-नियन्त्रण के परमाणुओं से। और इस संस्कार को "अधिमात्र-तीव्र-संवेग" का रूप देने के लिये विद्यार्थियों को निम्न उपायों का अनुसरण करना होगा।

उन का प्रेम इतना रसीला और रम जाने वाला हो कि जिन प्राणियों के साथ वे प्रेम करना चाहते हैं उन के हृदय के कोने कोने में वह फैल जावे। उन की कल्याण-कामना में इतनी शक्ति हो कि वह जिन प्राणियों के हित के लिये प्रकट हुई है, उन के हृदय में इतना खिंचाव पैदा कर दे, कि वे अपने आप को भूल कर इस के पीछे चलने के लिये विवश होजावें। उन का स्वार्थ-त्याग इतना ऊंचा हो कि और तो क्या उस से यश की प्राप्ति की भी गन्ध तक न आ सके। उन का अपने ऊपर अधिकार इतना महत्व रखता हो कि उन की आज्ञा के बिना उन के अध्यात्म जगत् का एक भी सभासद् अपने स्थान से हिल न सके। इन सारे उपादान

कारणों को यदि वे अपने वशीकरण मन में सञ्चित कर सकें तो एक अच्छे सारथि के सहायक "अधिमात्र-तीव्र-संवेग" संस्कार को अपने अन्तःकरण में जन्म दे सकेंगे।

वशीकरण मन जिन मनुष्यों को चलाना चाहता है, उन्हें इस मन्त्र में घोड़ों की उपमा दी गई है। इस उपमा का निर्वाह दो क्रियायों से किया गया है। उन में से एक है 'चलाना' और दूसरी है 'नियन्त्रण करना'। वशीकरण मन लोगों को जहां अपने पीछे चला रहा है इस के साथ ही वह उन के एक एक पग की चाल को देखता हुआ उस पर प्रतिबन्ध भी लगा रहा है। और वह इस लिये कि किसी पग की गति का झुकाव उस ओर न होने पावे, जो मार्ग कल्याण की ओर न जा रहा हो, अथवा टेढ़ा हो कर जा रहा हो।

घोड़ों के और मनुष्यों के दोनों ही के नियन्त्रण के लिये यहां एक ही साधन "अभीशु" का नाम लिया गया है। अभीशु का अर्थ है 'पगहा' अर्थात् घोड़ों की वह रस्सी जो कि सारथि के हाथ में होती है। घोड़ों के नियन्त्रण के लिये तो पगहे का नाम लेना ठीक था क्योंकि वह सारथि के हाथ में होता है, और उसी के सहारे पर वह घोड़ों को चलाता है, और उसी से जब उन्हें रोकना चाहता है रोक भी देता है। परन्तु मनुष्य तो रस्सी से चलाये नहीं जाते. यहां नियन्त्रण का साधन ढूंढना पड़ेगा। इस साधन को ढूंढने के लिये हम उसी पद के पास चलते हैं जिस का अर्थ पगहा या रस्सी किया गया है। और वह पद है 'अभीशु'।

'अभीशु' पद 'अभि' और 'इशु' इन दो शब्दों को मिल कर बना है, जिन में से 'अभि' का अर्थ है 'सामने' और 'इशु' का अर्थ है 'ऐश्वर्य वाला'। विद्यार्थी इन शब्दों के अर्थों पर ध्यान देंगे तो उन्हें पता लगेगा कि इन दोनों में से पगहा अर्थ किसी का भी नहीं है। पगहा घोड़ों के नियन्त्रण में समर्थ है, समर्थ को ही प्रभु कहते हैं, और प्रभु नाम ऐश्वर्य वाले का है, इधर इशु शब्द का ऐश्वर्य अर्थ हम बतला ही आये हैं। अभि को साथ मिला कर उस का अर्थ होगा ऐश्वर्य को सामने रखना-सामर्थ्य की उपासना करना। इस लिये इस भाव अर्थ के कारण अभीशु शब्द का अर्थ पगहा होजाता है। अब इसी अर्थ की योजना उपमेय मनुष्य में भी की जासकती है। यद्यपि मन के पास मनुष्यों का सञ्चालन तथा नियन्त्रण करने के लिये रस्सी नहीं, परन्तु जिस आधार पर अभीशु शब्द का रस्सी अर्थ हुआ है, वह वस्तु उस के पास अवश्य है। और वह वस्तु है, सञ्चालन और नियन्त्रण की सामर्थ्य। इस सामर्थ्य अथवा ऐश्वर्य की उपासना करने पर ही वशीकरण मन अच्छा सारथि बना है।

यदि विद्यार्थी एक महापुरुष अथवा योगिराज की पदवी तक पहुंचना चाहते हैं, और प्राणिमात्र का कल्याण कर अपने जीवन से अलभ्य लाभ उठाना चाहते हैं, तो उन्हें अपने मन का कोना कोना इस ऐश्वर्य से भरना आरम्भ कर देना चाहिये। वे अपनी इस शक्ति के परिणाम की परीक्षा अपने शरीर के समाज पर प्रतिदिन कर सकते हैं।

अपने इन्द्रियों पर उन का कितना अधिकार हुआ है, यह जांच कर लेना उन के लिये कोई कठिन बात नहीं। वे अपनी परीक्षा के इस परिणाम को अपनी दिन-चर्या में लिखना आरम्भ कर दें, और मासिक तथा वार्षिक परिणाम की मात्रा को मिलाकर पढ़ते हुए आगे चलना आरम्भ कर दें। वे इस मार्ग में जितने अधिक दौड़ सकते हों दौड़ें, वे कुछ काल के बाद ही देखेंगे कि पुरुषार्थ के धनी, जगन्नियन्ता प्रभु के हाथ उन की सहायता के लिये उन की ओर बढ़ चले आ रहे हैं। कहीं भूल से उन का पैर फिसल भी गया तो तत्काल ही उन्हें उन गुप्त हाथों का सहारा अवश्य मिलेगा। परन्तु यह ध्यान रहे कि वे उन हाथों की सहायता का सहारा न ढूंढ बल-पूर्वक अपने पैरों पर खड़े होने और खड़े रहने में अपना कोई प्रयत्न शेष न रक्खें। भगवान् की शक्ति-रूप हाथों की सहायता उन्हीं लोगों को मिलती है, जो अपने रोम रोम को पुरुषार्थ-रूपी सूर्य की किरणों से भर देते हैं, और अपने लक्ष्य-रूपी प्रकाश-स्तम्भ की ओर सरपट दौड़ पड़ते हैं। आलसी और दूसरों का सहारा खोजने वाले मनुष्य को न भगवान् के शक्ति-शाली हाथों की छाया मिलती है, और न जगदम्बा प्रकृति माता की प्रेम-भरी गोद।

हम प्रेरणा करेंगे कि विद्यार्थी और अभ्यासी महानुभाव इस पद को पाने के लिये अपनी सारी शक्तियों की आहुतियें, श्रद्धा और भक्ति से, दहकते हुए अपने उद्देश-रूपी परोपकार के अग्नि-कुण्ड में निरन्तर डालते चलें। वह दिन दूर नहीं जब कि परम पिता प्रभु अपने आनन्द-रूपी अमृत से उन के अन्तःकरण का कटोरा भर देंगे, और वे उल्लास से

उछलते हुए चमचे भर भर कर दीन दुखियों में उसे बांटते फिरेंगे। उस समय वह दृश्य उन्हें अवश्य ही देखने को मिलेगा कि जैसे गौ के पीछे बछड़ा उसी प्रकार लोग उन के पीछे पीछे चल रहे होंगे।

इस प्रकरण में हम ने वशीकरण मन के स्वरूप का, उस अवस्था को प्राप्त करने के कुछ साधनों का तथा उस से प्राप्त होने वाले फल का संक्षेप से वर्णन किया है। इस प्रसङ्ग में अन्तःकरण की यह अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में पहुंच जाने पर मनुष्य के लिये संसार में प्राप्त करने योग्य कोई वस्तु नहीं रहती। मन का सारा खेल यहां आकर समाप्त होजाता है। उस की सहायता से आत्मा जो कुछ प्राप्त करना चाहता था, वह सब कुछ इस अवस्था में पहुंच कर पा लेता है। इस शक्ति के सारे कर्तव्य यहां पहुंचते ही समाप्त हो जाते हैं। और अब यह निष्प्रयोजन हो कर आत्मा और परमात्मा के बीच में से निकल जाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य विषय था वह समाप्त हुआ।

इस से आगे "आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध होगा और उस की क्या परिस्थिति होगी" यह इस ग्रन्थ का विषय नहीं। अब हम जिस विषय का इस पुस्तक में व्याख्यान किया गया है, उस का संक्षेप से उल्लेख कर इसे समाप्त करेंगे।

यजुर्वेद के इन छः मन्त्रों में आत्मा के प्रधान-मन्त्री मन का निरूपण किया गया है। परिस्थिति के अनुसार

उस के स्वरूप में कई प्रकार के परिवर्तन आते हैं, और उन परिवर्तनों के कारण इस की कार्य करने की योग्यता भी भिन्न भिन्न रूपों में बदलती चली जाती है। शरीर में आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न प्राण-तन्तुओं और ज्ञान-तन्तुओं के समुदाय में रह कर इस का जो भाग कार्य करता है, उस उस कार्य और उस उस स्थान के अनुसार उस के भिन्न भिन्न नाम पड़ जाते हैं।

दैवमन हृदय में ज्ञान-तन्तुओं के संसर्ग में रह कर काम करता है। ज्ञान-इन्द्रिय उस के कार्य में उस के सहायक हैं। इन के द्वारा होने वाले भिन्न भिन्न ज्ञान पर प्रकाश डालना उस का काम है। एक प्रकार से यह प्रकाश का देवता है और इसी लिये इसे दैवमन कहा गया है।

यज्ञमन दैवमन के साथ ही प्राण-तन्तुओं के संसर्ग में रह कर काम करता है। इस के कार्य में पांच कर्म-इन्द्रिय और दश प्राण सहायक हैं। शरीर के कर्म-क्षेत्र का सब से बड़ा यजमान यह ही है, और इसी लिये इसे यज्ञ कहा गया है।

बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है, यह भी जहां दैवमन को विशेष विशेष अवसरों पर प्रेरणाएं देती है, इस के साथ ही ज्ञान-क्षेत्र के सारे निर्णय और उस की सब व्यवस्थाएं इसी के द्वारा होती हैं। ज्ञान अर्थात् बोध की सब व्यवस्थाएं इस के द्वारा होती हैं इस लिये इसे बुद्धि कहा गया है।

चेतस्, जिस का नाम दार्शनिक परिभाषा में चित्त है, उस का स्थान भी मस्तिष्क ही है। दैवमन के क्षेत्र में हुए

ज्ञानों, और यज्ञमन के क्षेत्र में हुई क्रियाओं के संस्कार इसी पर पड़ते हैं, और उन संस्कारों से स्मृति भी इसी के क्षेत्र में हुआ करती है। इस प्रकार स्मृति का साधन होता हुआ यह मन पिछली घटनाओं को चिताता है—याद कराता है, इस लिये इस का नाम चित्त पड़ गया है।

ऊपर के सब अन्तःकरण प्रत्यक्ष रूप में काम करते हैं इस लिये इन का नाम व्यापृत मन रक्खा गया है।

धृतिमन सारे शरीर में रह कर गुप्त रूप से अनेक कार्य कर रहा है, इस लिये इसे गूढ-व्यापृत मन कहा गया है। जब इस में सत्वगुण की मात्रा अधिक बढ़ जाती है, आत्मा के गुणों का आभास इस में चमकने लगता है, तब इसे प्रत्यग्भान अथवा अहङ्कार का नाम मिल जाता है, इसी के और अधिक सत्व-प्रधान होने पर जब इस में भगवान् के ज्ञान का चमत्कार प्रकट होजाता है और यह अनेक अद्भुत कार्य करने में समर्थ होजाता है, तब इसे विश्वभान कहने लगते हैं, और जब यह ही अपनी सब सहायक शक्तियों पर नियन्त्रण कर दूसरों को भी अपने पीछे, कल्याण-मार्ग पर चलाने में सफल होता है, तब इस का नाम वशीकरण होजाता है।

अन्तःकरण के इन सब विभागों का और इन के कार्यों का संक्षेप से स्पष्टीकरण पाठक पढ़ चुके हैं। और इस के साथ ही "मनुष्य इन्हें शिव सङ्कल्पों से पूर्ण कर इन से क्या क्या अलभ्य लाभ उठा सकते हैं" यह निर्देश भी स्थान स्थान पर कर दिया गया है। अन्त में हम विश्रा-

र्थियों, अभ्यासियों तथा अन्य पाठक महोदयों से यह आशा करेंगे कि वे आचरण के क्षेत्र में पहुंच कर अपनी इस विचित्र शक्ति से यथोचित काम लेते हुए अपनी जीवन-वाटिका को सद्गुण-पुष्पों से प्रफुल्लित करेंगे। और इस भांति अपने स्वरूप के और अपने अन्दर बसे हुए भगवान् के आनन्दमय चमत्कार के दर्शन कर कल्याण के भागी बनेंगे।

ओ३म् शान्तिः